गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

वेद विशेषांक

सम्पादक

प्रो0 महावीर

एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी) व्याकरणाचार्य

पी-एच.डी., डी.लिट्.

प्रोफेसर एवं निदेशक

श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान

सह-सम्पादक

डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार -249404

जुलाई - अक्टूबर 99	वर्ष 51 वां	श्रावण - कार्तिक सं. 2056

सम्पादक मण्डल

मुद्रक : किरण प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल फोन : 415975

वेदमञ्जरी

जयकार :

महाँ इन्द्रः परश्च नु, महित्वमस्तु वज्रिणे।

द्यौर्न प्रथिना शवः।। ऋग्0 1.8.5

ऋषिः मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। देवता इन्द्रः। छन्दः गायत्री।

महान् महामहिमो वर्तते **इन्द्रः** इन्द्रनामा परमेश्वरः, **परः च नु** परमोत्कृष्टश्च वर्तते नूनम्। **महित्वम्** महत्त्वम्, जयकारः **अस्तु** भवतु **वज्रिणे** वज्रधारिणे तस्मै। तस्य **शवः** बलम् **प्रथिना** विस्तरेण यशसा **च द्यौः न** द्युलोक इव विद्यते।

अयि भ्रातरः! किं यूयं विश्वपतेरिन्द्रस्य परिचयं प्राप्तुमिच्छथ? शृणुत, श्रुतिस्तं परिचाययति। इन्द्रः खलु महान् वर्तते, महामहिमः कीर्त्यते। जगतीतले ऽस्मिन् ये ऽपि महान्तः कथ्यन्ते, तेभ्यो ऽपि महत्तमः स वीक्ष्यते। तन्महिम्नः सम्मुखं बहिः सूर्यश्चन्द्रस्तारका नद्यः पर्वताः सागराः, देहाभ्यन्तरं च चक्षुषी, श्रोत्रे, वाङ् मनः, सर्वं तुच्छमस्ति। इन्द्रः परोऽप्यस्ति, स परमोऽस्ति, सर्वोत्कृष्टो वर्तते। अत एवासौ परमात्मा, परात्मा, परमेश्वरः, परमो देवः, परात्परः इत्यादिनामभिः स्मर्यते। सर्वोत्कृष्टत्वादेव स संसारे स्पृहणीयतमो वर्वर्ति, अस्माकं प्रीतिभाजनम् अस्मदमीप्सायाः केन्द्रं च संपद्यते।

इन्द्रस्य बलं विस्तारं यशश्च वयं किं वर्णयेम? किमपि लौकिकं वस्तु तदीयम् उपमानं न भवितुमर्हति। उपमानम् उपमेयाद् उत्कृष्टतरमेव भवति। परम् इन्द्राद् उत्कृष्टतरं लोके किमपि नास्ते। तथापि स्वयं बोद्धुं परान् बोधयितुं च वयं कथयामः—इन्द्रस्य बलं विस्तारो यशश्च द्युलोकतुल्यं वर्तते। द्युलोके विद्यमानं सूर्यमेव पश्यत। सूर्यस्य बलेनैव निखिलग्रहोपग्रहसहितं समग्रमपि सौरमण्डलं परस्परम् आकर्षणसूत्रेण बद्धं प्रकाशते। अन्यथास्माकं भूमिरन्ये च लोकाः सर्वेऽपि चिरान्धकारे विलीनाः स्युः। सूर्यस्य विस्तारोऽप्याश्चर्यकरः। असौ विस्तारे भूमिमपेक्ष्य त्रयोदशलक्षगुणो विद्यते। सूर्यस्य यशोऽपि दिग्दिगन्तव्यापि। सूर्यमतिरिच्य द्युलोके बहवोऽन्ये नक्षत्र—पुञ्जा अपि सन्ति येषां बलं विस्तारं यशश्च दृग्गोचरीकृत्य बुद्धिरस्माकं चक्रायते। एवं द्युलोकस्य दृष्टान्तेन परमेश्वरस्य बलादिकम् अनुमीयते।

इन्द्रो वज्रधरोऽप्यस्ति। वज्रेण तदीया दण्डशक्तिः सूच्यते। स खलु पापपरायणान् जनान् तत्कर्मानुरुपं दण्डयति। तस्य दण्डशक्तिं यदि वयं मनसि कुर्याम तदा जीवनस्य सर्वा अपि उच्छृङ्खलताः, सर्वाण्यपि अविवेकाचरणानि समाप्तिं गच्छेयुः।

आगच्छत, महिमानं गायामस्तस्य जगत्पतेरिन्द्रस्य। जयजयकारं कुर्मस्तस्य वज्रधारिणः।

–डॉ0 रामनाथ वेदालंकार

• • •

सम्पादकीय

गुरुकुल पत्रिका का वेद–विशेषांक सुधी पाठकों के कर कमलों में अर्पित करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। सम्पूर्ण विश्व नई सदी और नई सहस्त्राब्दि की ओर बढ़ रहा है। इक्कीसवीं सदी का भारत कैसा होगा? हम किस मार्ग पर आगे बढ़ेंगे? हमारा रहन–सहन, खान–पान, आचार–विचार कैसा होगा? यह आज विचार का प्रमुख विषय है। भूमण्डलीकरण की बात बड़ी तेजी से चल रही है। स्थान–स्थान पर गोष्ठियों का आयोजन हो रहा है। विषय एक ही है– इक्कीसवीं सदी का भारत या इक्कीसवीं सदी का विश्व। विज्ञान और कम्प्यूटर की नेत्र दीपक उपलब्धियों से विश्व–मानस अभिभूत है। इसी को उन्नति, प्रगति और सुख शान्ति का प्रमुख मान दण्ड मान लिया गया है। धन, वैभव, पद, प्रतिष्ठा और भोग की अधिकाधिक सामग्री एकत्रित करना, मानव जीवन का लक्ष्य बनकर रह गया है। एक ओर अन्ध–श्रद्धा है तो दूसरी ओर श्रद्धा का सर्वथा अभाव। परिणाम सामने हैं– अन्ध श्रद्धा के कारण पाखण्ड बढ़ रहा है, नये–नये भगवान् भोली भाली जनता को अपने चंगुल में फंसाकर उनका जीवन नष्ट कर रहे हैं, दूसरी ओर श्रद्धा के अभाव में मातृदेवोभव, पितृदेवोभव आचार्यदेवोभव, राष्ट्रदेवोभव का अमृत उपदेश लुप्त सा हो गया है। नैतिकता के ह्रास तथा जीवन मूल्यों के विस्मृत कर देने से सर्वत्र अशान्ति, अतृप्ति, राग–द्वेष, ईर्ष्या आदि का साम्राज्य स्थापित हो रहा है। ऐसी विषम परिस्थितियों में आशा, विश्वास और प्रेरणा का एक ही स्रोत दिखाई देता है और वह है सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों के पवित्र अन्तःकरणों में प्रकाशित पवित्र वेद–ज्ञान। यह उस दयानिधान, परम कृपालु सर्वशक्तिमान् जगत्पिता द्वारा प्रदत्त सुधा–रस है जिसका पान कर मानव का जीवन धन्य हो जाता है। भगवती श्रुति अत्यन्त स्नेह पूर्वक कहती है–श्रृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः। अर्थात, हे मेरे अमृत पुत्रों! सुनो। इससे अधिक स्नेह भरा सम्बोधन और क्या हो सकता है। जबसे मानव ने वात्सल्यमयी, ममतामयी जगज्जननी का साथ छोड़ा तभी से वह अशान्त है, अतृप्त है और दुःखी है। इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करते समय यदि विश्व मानव इस अमर धरोहर को, प्रभु के अनुपम वरदान को श्रद्धापूर्वक हृदय में धारण कर ले तो उसके दुःखों का अन्त हो सकता है। 'नान्यः पन्था विधतेऽयनाय', कल्याण का और कोई मार्ग है ही नहीं। वही कल्याण पथ हम अपने गुरुकुल–पत्रिका परिवार को दिखाना चाहते हैं। इस संकल्प का एक छोटा सा रूप है यह वेद–विषेशांक। वेद तो अगाध, अनन्त महासागर है, इसमें असंख्य रत्न छिपे हुए हैं। प्रत्येक अपनी क्षमता, साधना और श्रद्धा के अनुरूप रत्न पा सकता है। हमने विद्वानों के कुछ शोध–लेख इस अंक में प्रकाशित किये हैं। स्थानाभाव और कलेवर वृद्धि के भय से प्राप्त सभी लेख प्रकाशित नहीं हो पा रहे हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हमारे प्रबुद्ध पाठक इसे स्नेहपूर्वक स्वीकार कर चिन्तन की स्वस्थ दिशा प्राप्त कर सकेंगे।

राष्ट्र नायक श्री अटल बिहारी वाजपेयी का शत–शत अभिनन्दन

भारत, विश्व का गुरु, संपूर्ण भूमण्डल को प्रकाश देने वाला, जीवन की शिक्षा देने वाला ज्ञान भास्वर, वैभवशाली राष्ट्र। आपस की फूट से परतन्त्र हुआ, सुदीर्घ काल तक पराधीनता की श्रृंखलाओं में बन्धा रहा, छटपटाता रहा। सुभाषचन्द्र बोस, क्रान्तिवीर भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव, चन्द्रशेखर आजाद, अमर शहीद रामप्रसाद बिस्मिल, लाला लाजपतराय, महात्मा गाँधी बनकर भारतमाता की सन्तानें राष्ट्र की बलिवेदी पर अपने जीवन की आहूतियां देती रहीं। इन अमर, शहीदों के बलिदानों से परतन्त्रता का अन्धकार दूर हुआ। 15 अगस्त का सूर्य स्वतन्त्रता का सुप्रभात लेकर राष्ट्रगगन में जगमगाया। 26 जनवरी गणतन्त्र का शुभ सन्देश लेकर आया। हमारा देश और हमारा शासन, देश की गली–गली और फूल की कली–कली मुस्कराने लगी। पं० जवाहरलाल नेहरु ने स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री के रूप में लाल किले पर तिरंगा फहराया। लोकतन्त्र का रथ चलने लगा, झटके लगते रहे, कभी–कभी निराशा की धनपटली ने आशा और विश्वास के चन्द्रमा को आच्छादित किया किन्तु हम भारतवासियों की आस्था नष्ट नहीं हुई। 1996 से अब तक तीन चुनाव। बार–बार लोकसभा का भंग होना और बनना। अरबों–खरबों का गरीब राष्ट्र पर बोझ। विकास के रथ की गति का अवरुद्ध होना, जातिवाद का ताण्डव नृत्य, अपराध, हिंसा और भ्रष्टाचार का राजनीति में खुलकर प्रवेश। देश का भविष्य क्या होगा? लोकतन्त्र जीवित रहेगा या दमतोड़ देगा, यही चिन्ता का प्रमुख विषय। ऐसे निराशा पूर्ण वातावरण में 13वीं लोकसभा का निर्वाचन संपन्न हुआ। निर्वाचन से पूर्व कारगिल के युद्ध में भारतीय वीरों ने वीरता का नया इतिहास बनाया, तो उससे पूर्व पोखरण के परमाणु–परीक्षण ने विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों की पंक्ति में भारत को खड़ा कर दिया। इन सफलताओं के महानायक हैं माननीय अटल बिहारी वाजपेयी। राष्ट्र ने पुनः अपना भविष्य इस राष्ट्रनायक को सौंपा है। देश की जनता को पूर्ण विश्वास है कि भारत माता का यह लाड़ला पुत्र इस देश को उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर अवश्य प्रतिष्ठित करेगा। भावुक और कवि, देशवासियों की दशा देखकर छटपटाने वाले, भारतमाता की चरणधूलि को अपने माथे का चन्दन समझने वाले माननीय अटल जी अब राष्ट्रनिर्माण की संकल्प–शक्ति से ओत–प्रोत होकर इस देश का भविष्य अवश्य संवारेंगे। हम आशा भरी दृष्टि से देखते हुए इस महान जननायक के पुनः प्रधानमंत्री पद पर प्रतिष्ठित होने पर शत–शत अभिनन्दन और वन्दन करते हुए दीर्घजीवन एवं चन्द्रोज्वल कीर्ति की मंगल कामना करते हैं और परम पिता परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि आपके सुयोग्य नेतृत्व में भारत देश विश्व का सर्वश्रेष्ठ देश बनकर चमके।

– प्रो० महावीर

• • •

वैदिक मधु-गीत

- डॉ0 रामनाथ वेदालंकार

मधु वाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः।

माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।। ऋ0 1.90.6

हम चाहते हैं कि प्रत्येक सत्यसाधक के ऊपर मधु बरसे, मधु का झरना झरे। पवन अपनी शीतल मन्द लहरियों के साथ मधु बहा कर लायें। कल-कल-निनादिनी सरिताएँ मधु क्षरित करें। ओषधियाँ हमारे लिए मधुमय हों।

मधु नक्तमुतोषसो, मधुमत् पार्थिवं रजः।

मधु द्यौरस्तु नः पिता।। ऋ0 1.90.7

कभी अपने श्याम आँचल से माता के समान सबको आच्छादित करती हुई और कभी शान्त, मधुर चन्द्रिका छिटकाती हुई विश्रामदायिनी रात्रियाँ हमारे लिए मधुमती हों। जागृति और नवस्फूर्ति देने वाली स्वर्णिल उषाएँ मधुमयी हों। समस्त पार्थिव लोक मधुमय हो। पितृतुल्य पालनकर्ता द्युलोक भी मधुमय हो।

मधुमान् नो वनस्पतिर्, मधुमाँ अस्तु सूर्यः।

माध्वीर्गावो भवन्तु नः।। ऋ0 1.90.8

हरित पत्रों का दुकूल ओढ़े हुए ये वृक्ष—वनस्पति हमारे लिए मधुमय हों। रश्मियों से जगत् को प्रकाशित करने वाला पावक सूर्य मधुमय हो। स्तनों से अमृतोपम दूध क्षरित करने वाली गौएँ मधुमयी हों।

इयं वीरून्मधुजाता, मधुना त्वा खनामसि।

मधोरधि प्रजातासि, सा नो मधुमतस्कृधि।। अथर्व0 1.34.1

देखो, यह सामने मधुमयी लता दिखाई दे रही हैं। यह 'मधुयष्टि' अपने अन्दर

मधुरस लेकर उत्पन्न हुई है। हे मधुलता! मधु के लिए हम तुझे खनन करते हैं। तू मधुमय है। हमें भी मधुमय कर।

जिह्वाया अग्रे मधु मे, जिह्वामूले मधूलकम्।

ममेदह क्रतावसो, मम चित्तमुपायसि।। अथर्व0 1.34.2

मेरे जिह्वाग्र पर मधु हो, जिह्वामूल में मधु हो। हे मधु! तुम मेरे एक–एक ज्ञान में, एक–एक संकल्प में, एक–एक कर्म में रम जाओ। तुम मेरे चित्त में बस जाओ।

मधुमन्मे निक्रमणं, मधुमन्मे परायणम्।

वाचा वदामि मधुमद्, भूयासं मधुसन्दृशः।। अथर्व0 1.34.3

मेरा घर से निकलना मधुमय हो, कार्यक्षेत्र में पग रखना और दूर–दूर जाना मधुमय हो। मैं वाणी से मधुमय बोलूँ। मैं मधुतुल्य हो जाऊँ।

दिवस्पृथिव्या अन्तरिक्षात् समुद्रादग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे।

तां चायित्वामृतं वसानां हृद्भिः प्रजाः प्रति नन्दन्ति सर्वाः।। अथर्व0 9.1.1

द्युलोक से, पृथिवी से, अन्तरिक्ष से, समुद्र से, अग्नि से, वायु से मधुकशा (मधुमयी वाणी) उत्पन्न होती है, अर्थात् मधुर वाणी में इन सबकी विशेषताएँ होती हैं। वह द्युलोक के समान प्रकाशक, पृथिवी के समान धारक, अन्तरिक्ष के समान मध्यस्थ, समुद्र के समान गम्भीर, अग्नि के समान ज्योतिर्मयी और वायु के समान प्राणदायिनी होती हैं। उसके अन्दर अमृत भरा होता है। उसे अपना कर सब प्रजाएं आनन्दित हो जाती हैं।

मधु जनिषीय मधु वंशिषीय।

पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा।। अथर्व0 9.1.14

मैं मधु उत्पन्न करूँ, मधु चाहूँ। हे जलों में विद्यमान अग्नि! मैं तेरे समीप आया हूँ, तू मुझे वर्चस् के मधु से संयुक्त कर।

यथा मधु मधुकृतः संभरन्ति मधावधि।

एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्।। अथर्व0 9.1.16

जैसे शहद बनाने वाली मधुमक्खियाँ छत्ते के मधु में मधु मिलाती रहती हैं, वैसे ही हे अश्विनो ! हे प्राणापानो ! तुम मेरे मधुमय आत्मा में और अधिक 'वर्चस्' का मधु मिलाते रहो।

यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जन्ति मधावधि।

एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च धियताम्।।अथर्व0 9.1.17

जैसे मधुमक्षिकाएँ शहद के छत्ते में अधिकाधिक मधु मिलाती रहती हैं, वैसे ही हे अश्विनो ! हे प्राणापानो ! मेरे अन्दर तुम ब्रह्मवर्चस्, तेज, बल और ओज का मधु मिलाते रहो।

यद् गिरिषु पर्वतेषु गोश्वश्वेषु यन्मधु।

सुरायां सिच्यमानायां यत् तत्र मधु तन्मयि।। अथर्व0 9.1.18

देखो ! बादलों में मधु है, सरसता का मधु है, पवित्रता का मधु है। वह मधु मुझे भी प्राप्त हो। पर्वतों में मधु है, हरियाली का मधु है, स्रोतों और झरनों का मधु है वृक्ष-वल्लरियों और पुष्प-फलों का मधु है, वनों की शान्ति का मधु है, पाषाणों की कठोरता का मधु है। वह मधु मुझे भी प्राप्त हो। गौओं के अन्दर मधु है, गोरस का मधु है, परोपकारिता का मधु है, सौम्यता का मधु है, मातृत्व का मधु है, अहिंसा का मधु है, सरलता का मधु है। वह मधु मुझे भी प्राप्त हो। अश्वों के अन्दर भी मधु है, बल का मधु है, वेग का मधु है, वह मधु मुझे भी प्राप्त हो। आसवों में भी मधु हैं,बलोत्तेजकता का मधु है, विकारशामकता का मधु है, स्वास्थ्यवर्धकता का मधु है। वह मधु मुझे भी प्राप्त हो।

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती।

यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु।।अथर्व0 9.1.19

हे शुभ मधुविद्या के अधिपति प्राणापान रूप अश्वी देवो ! तुम मुझे मधुमक्षिकाओं के शहद के सदृश मीठे मधु से उज्ज्वल कर दो। मेरी वाणी को वर्चस्विता के मधु से संयुक्त कर दो, जिससे मैं जनों के प्रति सदा वर्चस्वती वाणी बोलूँ।

• • •

वेदमन्त्रेषु राष्ट्रिय-भावना

– प्रो0 वेदप्रकाशः शास्त्री
आचार्य उपकुलपतिश्च
हरिद्वारस्थगुरूकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयस्य

समस्त भूतलवासिनां मानवानां बहुविधाभ्युत्थानविषये स्वस्थचितैर्विद्वद्भिर्वेदानधिगत्यैव विश्वजनीनं सकलजनहृदयग्राह्यं निर्मलं विचारान्वेषणमकारि। "सर्वज्ञानमयो हिसः" इति निगद्यं वेदानां महत्त्वमुद्भावयता मनुना मानवानां मनसि वेदानुरागबीजं व्युप्तम्। निखिलज्ञानविज्ञानाधिगमाय वेदे विमलां सुवरदां ब्रह्मस्वरूपां मतिं वितन्वद्भिः सुमेधोभिर्या याः कामनाः कृतास्ताः सर्वा अपि पूर्णाः। यथा तरङ्गाश्रयः सलिलाशयो भवति यथा व्यभिचारिणां भावानामाश्रयः स्थायिभावाशयस्तथैव जगति वर्तमानानां सर्वासां प्रवृत्तीनामाश्रयो वेद एव विद्यते। अतएव समुदीर्यते भारतीभाषा समुदभासिते, महाभारते–

अनादिनिधनानित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।

म.भा. शान्तिपर्व अ. 232, 24

नानारूपं च भूतानां, कर्मणां च प्रवर्तनम्।
वेद शब्देभ्य एवादौ, निर्मिमीते स ईश्वरः।।
नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वयन्ते सुजातानां तान्येवैभ्या ददात्यजः।।

यथार्थज्ञानाय वेदार्थावगमे सततं प्रयत्नो विध्यः– यथा– म.भा. शान्तिपर्व 232, 25–26

यो वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारण तत्परः।
न ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञः तस्य तद्धारणंवृथा।।
भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थ न वेति यः।
यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा।।

म.भा. शान्तिपर्वमोक्ष 305 अ. 13–14

यं देशं समलङ्.करोति स्वजन्मना जनः स जनो नूनमेव तं देशं पितरं मातरं च मत्वा समर्चति। स्वराष्ट्रस्य विष्वगुन्नतिं द्रष्टुं कर्तु च नक्तन्दिवं कामयते राष्ट्रभावभरितहृदयो मनुष्यः। राष्ट्रं नि पद्रवं निरवखण्डनं च कर्तु सैन्य–सञ्चालने, राज्यस्थितिसमवेक्षणे, निरन्तरायेदण्डविधाने, निःस्वार्थभावे नेतृत्वे, निखिलजनचिन्तानुरञ्जनकरे सर्वलोकाधिकारे

च दृष्टिं निक्षिपद्भिर्मनीषिभिर्वेदसंदेशादेशपरिपालने निश्चलमतिभिर्भाव्यमेव। स्मृतिशास्त्रे मनुना समीचीनो विचारः समुन्मेषितः–

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति।।

मनुस्मृतिः 12/100

स्वराष्ट्रे जन्म प्राप्य ये जनाः शैशवावस्थाया युवावस्थाया वृद्धावस्थायाश्च आनन्दमनुभवन्ति ते क्वचित्सरिज्जलं पिबन्ति, क्वचित् पृथिव्यन्नमश्नन्ति, क्वचिद्वृक्षफलान्यदन्ति, क्वचिद् वने सञ्चरन्ति क्वचिच्चाटन्ति दुर्गमे पर्वते। अस्मिन्नेवार्यराष्ट्रे मुनिभिस्तपस्विभिर्महर्षिभिश्च सततं महत्तपस्तप्त्वा राष्ट्रस्य समृद्धिमयं सुखप्रदं स्वरूपं दृष्टम्। यथा–

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंन्नमन्तु।।

राष्ट्रमुन्नेतुं ब्राह्मणा राजन्याः स्त्रियो गावो वनस्पतय ऋतवः पर्जन्याः कामा निकामाश्च कीदृशा स्युरित्याकांक्षायां समुदितायां राष्ट्रभक्ताः प्रतिदिनं राष्ट्रगानपदवेद्यमेकं वेदमन्त्रं प्रमुदितेन मनसा मधुरेण स्वरेण मधुराक्षरया च वाचा प्रातरुत्थाय समुद्गायन्ति– यथा–

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्.वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्
निकामे–निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधय पच्यन्ताम्
योगक्षेमो नः कल्पताम।।

यजु. 22/22

स्वराष्ट्राभ्युदयं कामयमानेन केनापि राष्ट्रवादिना मनस्विना कदाचिदपि क्वचिदपि निजेतरत्वभावो न कल्पनीयः। समस्तेषु राष्ट्रवासिषु, समस्तासु राष्ट्रक्रियासु, योगक्षेमभावेन प्रचलितेषु सर्वेषु क्रियाकलापेषु, शमवृत्तिवत्सु वृत्तेषु च निजादरभाव आत्मभावश्च सर्वदैव वर्धनीयः। यथा–

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।।

अथर्व. 19/62/1

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।।

यजुर्वेद 18/48

ये राष्ट्रवासिनो जना प्रातःकाले शय्यां विमुच्य स्वमातृभूमेर्निर्मलेन रजसा ललाटं लासयन्ति ते धन्याः। मातृभूमिं प्रतिनमन्तः सन्तस्तस्याः सुखकारिणीं शत्रुहारिणीं निवासदायिनीं च सत्तां कीर्तयन्तः सुखं लभन्ते।

पृथिवी, स्योना अनृक्षरा निवेशनी भव।।

ऋक 1/12/15

कस्मिन्नपि राष्ट्रे तिस्रो देव्यः सुखमातरो भवन्ति। यत्र तिसृणां देवीनामभिंनन्दनमनवरतं प्रतन्यते तत्र सुखवर्षा भवन्ति राष्ट्रं परिवर्धते, न वहति व्यथां क्वचित् कश्चिज्जनः। अस्माकं मातृभूमिः प्रथमा देवी, द्वितीया देवी मातृसंस्कृतिः, मातृभाषा च तृतीया देवीति निगद्यते। एतासां निर्विशेषप्रतिपत्तिव्युत्पादितं समर्चनमेव रास्ट्रार्चनमस्तीति मन्तव्यम्—यथा—

इडा सरस्वती मही तिस्रोदेवीर्मयोभुवः।।

ऋग्वेद 1/13/9

अद्यत्वे जनाः प्रवदन्ति यत् संघे शक्तिः कलौ युगे, परं वेदेषु संघशक्तेर्महिमा सुमहान् विद्यते। युगे युगे संघशक्तिरपेक्ष्यते। राष्ट्रस्य साफल्याय संघशक्तिर्नितरामिष्यते। वेदमन्त्रे राष्ट्रकल्याणाय प्रार्थना विद्यते यत्— युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्।।

ऋग्. 1/17/4

यस्मिन् राष्ट्रे सैनिकाः शौर्योदार्ययोः समन्वयकरणे सुरक्षा भवन्ति त एव भवन्ति राष्ट्रवीरा, वीरास्ते हन्यान् निघ्नन्ति अवन्ति चाव्यान्। ये चिरं राष्ट्रं रक्षितुमीहन्ते तैः शौर्य प्रकटनीयमौदार्यमपि च प्रकटनीयम्। यथा—

नमस्विन उप स्वराजमासते।।

ऋक् 1/36/7

ये जना अलभ्यं कवित्वपदमुपेत्य स्वराष्ट्रं पितरं च मत्वा तद्वर्णने स्वप्रतिभोन्मेषं कुर्वन्ति। मातृभूमेर्महिमानं गायन्ति, तद्वैभवं वर्णयन्ति, तत्कीर्तिं प्रसारयन्ति, तद्यशो गाथां च लिखन्ति ते चिरं जीवन्ति जगत्याममृताश्च भवन्ति। यथा वेदे—

यद्यूयं पृश्निमातरो मर्तास स्यातन।
स्तोता वो अमृतः स्यात्।।

ऋक् 1/38/4

ये जना राष्ट्रे नेतृत्वमीहन्ते ते राष्ट्रहितमेव पुरोनिधाय कार्याणि वर्धयन्तु, प्रज्ञानां विश्वासं

कदाचिदपि मा शिथिलयन्तु, स्वराष्ट्रकल्याणमाकलयन्तु, सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय च स्वबुद्धिचातुर्य परिष्कुर्वन्तु। यथा वेदे–

दाधार क्षेममोको न रण्वो
यवो न पक्को जेता जनानाम्।
ऋषिर्न स्तुभ्वा विक्षु प्रशस्तो।
वाजी न प्रीतो वयोदधाति।

ऋक् 1/66/2

यत्र राष्ट्रनायकाः प्रजानां दैन्यं दूरीकर्त्तु प्रयतन्ते, सर्वविधमज्ञानतिमिरं नाशयन्ति, बुभुक्षामपाकर्तुं भवन्ति च प्रयासरतास्तत्र जना राष्ट्रियभावनां स्वमनसि स्थापयन्ति। ये राष्ट्रोन्नायकाः सन्ति ते स्वराज्यभावनां दृढयन्तु समूलमुत्पाटयन्तु च राष्ट्रस्य शत्रून। स्वराज्यं स्थिरयितुं सर्वासु दिक्षु सुनेत्रा दृष्टिनिक्षेपो विधेयः। स्वराष्ट्रप्रगत्यर्थं नानाविधानि साधनानि अन्वेष्टव्यानि। सत्कर्त्तव्या राष्ट्रभावाः जेतव्याः शत्रवः पुरस्करणीयाश्च वीराः। यथा वेदमन्त्राः–

विद्वान् अग्रे वयुनानि क्षितीनां
व्यानुषक्छुरुधो जीवसे धाः।।

ऋक् 1/72/7

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्माचकार वर्धनम्।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या नि शशा·
अहिमर्चन्ननुस्वराज्यम्।।

ऋक् 1/80/1

प्रेह्यभीहि घृष्णुहि न ते वज्रो नि यसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्तं जया
अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्।।

ऋक् 1/80/3

इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्त वज्रिन्वीर्यम्।
यद्धत्यं मायिनं मृगं तमु त्वं
माययावधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्।।

ऋक् 1/80/7

गोमातरो यच्छुभयन्ते अञ्जिभिस्तनूषु .
शुभ्रा दधिरे विरुक्मतः।

बाधन्ते विश्वमभिमातिनमप

वर्त्मान्येषामनु रीयते घृतम् ।।

ऋक् 1/85/3

तदेव राष्ट्रमक्षुणं भवति यज्जना न भवन्ति निर्धनाः। यदा मनुष्या धनधान्यवन्तो भूत्वा भवन्ति दानिनः परिपुष्टाः सन्तो भवन्ति परजनपोषकाः संयमयानेन तृष्णाटवीमतीत्य भवन्ति निष्तृष्णाः, कठोरं श्रमं कृत्वा कर्मकुशला भवन्ति, धनं गृहीत्वा अपि भवन्ति च दातारस्तदा राष्ट्रियभावना प्रजाजनमनसि प्रतिष्ठापदमाप्नोति। यथा–

दधन्नृतं धनयन्नस्य धीतिमादिदर्यो दिधिष्वो विभृत्राः।

अतृष्यन्तीरपसो यन्त्यच्छा देवाञ्जन्य प्रयसा वर्धयन्तीः।।

ऋक् 1/71/3

ये शत्रवो राष्ट्रविघातं मनसि निधाय गुप्तरूपेण कार्यं कुर्वन्ति। राष्ट्रवासिनां बुद्धिमत्तां तेजस्वितां बलिदानभावनां सच्चरित्रतां च नाशयितुमीहन्ते ते राष्ट्रवीरः सत्वरमेव हन्तव्याः। यथोक्त वेद मन्त्रे–

वियात विश्वमत्रिणं ज्योतिष्कर्त्ता यदुश्मसि।।

ऋक् 1/86/10

यया यज्ञभावनया राष्ट्रपुरुषा राष्ट्रस्य श्रियं प्राणम् आयुष्यम, तेजो बलं च जिन्वन्ति तामेव यज्ञभावनां दूषयितुं केचन शत्रवो नष्टार्यरूपा सन्ति प्रयतमानाः। यज्ञरिपवो येऽनार्याः प्रकाशं वा अप्रकाशं वा असमञ्जसचरित्रं चित्रयन्ति ते सदैव पराभवनीयाः। अमुमेव भावं प्रकाशयति वेद मन्त्रः–

अभितिष्ठेम पृत्सुतीरसुन्वताम् ।।

ऋक् 1/110/7

ये लोकनायका राष्ट्रनायका वा राष्ट्रस्य स्पन्दनं जानन्ति तदन्तर्गतं तत्त्वं परिचिन्वन्ति जानन्ति च तत्प्रकृतिं त एव राष्ट्रं परिपुष्णन्ति रक्षन्ति सत्कुर्वन्ति च सर्वदा। तादृशा लोकनायका राष्ट्रस्येतिवृत्ते लिखिता इव चित्रिता इव भान्ति। यथा–

अस्तावि साम्राज्याय प्रतरं दधानः।।

ऋक् 1/141/13

ये राष्ट्रे निवसन्ति जीविकां प्रसारयन्ति परं ते स्वाभिमानमहिमानं न विदन्ति। उदरदरीं पूरयितुं ते सत्येऽसत्यमसत्ये च सत्यं पश्यन्ति। केवलं देहप्रधानैः पुरुषैर्नप्रसार्यते राष्ट्रभावना। नापि च तैर्दीयते किमपि राष्ट्ररक्षार्थम्। ये स्वाभिमानं रक्षन्ति त एव राष्ट्रबाधां दूरीकर्त्तु क्षमन्ते।

राष्ट्रं तैरेव सर्वदा स्वाभिमानिभिरभिरक्षितं यैः स्वाभिमानं रक्षितुं तप्तं महत्तपः, अनुभूतं प्रभूतं कष्टम्,गीतं राष्ट्रगीतं, त्यक्तं च भौतिकं सुखम्।

अतएव वेदे स्वाभिमानस्याखण्डतां रक्षितुमुपदेशः सम्प्राप्यते –यथा

त्वं मानेभ्य इन्द्र विश्वजन्या
रदा मरुद्भिः शुरुधो गो अग्राः।
स्तवानेभिः स्तवसे देव
देवैर्विद्यायेष वृजनं जीरदानुम्।।

ऋक् 1/169/8

राष्ट्रे वर्तमानाः सर्वेऽपि जना दूरं यावत् स्वजीविकां प्रसारयितुं समर्था स्युरित्युपदेशो वेदर्षिणा प्रदीयते। राष्ट्रशरीरे व्याप्तिं व्युपगते सति जीविका साधनानि स्वत एव विस्तृतिमुपयान्ति। अतो मातृभूमेर्विस्ताराय राष्ट्रस्य शुभचिन्तकैः प्रयासाः करणीयाः। अस्मिन् विषये प्राप्यते वेदमन्त्रः– यथा

पूश्च पृथिवी बहुलान उर्वी
भवा तोकाय तनयाय शं योः।
अग्ने त्वमस्मद्युयोध्यमीवा
अनग्नित्रा अभ्यमन्त कृष्टीः।।

ऋक् 1/189/2

राष्ट्रे द्विविधा जनाः प्रादुर्भवन्ति, केचन प्रजानां भद्रमिच्छन्ति केचन चाभद्रमिच्छन्ति। ये प्रजानां प्रियंकरास्ते लालनीयाः पालनीयाश्च ये खल्वप्रियंकरास्ते दण्डनीयाः। उक्तमेव वेदे यथा–

अरोरवीद्धष्णो अस्य वज्रोऽमानुषं
यन्मानुषो निजूर्वात्।
नि मायिनो दानवस्य माया
अपादयत्पपिवान्त्सुतस्य।।

ऋक् 2/11/10

वेदे परान्नभक्षणस्य निषेधो वरीवर्ति। परान्नाशनात् बुद्धौ मनसि काये वदने संवादे संगमने ज्ञाने संज्ञाने च युगपद् प्रोद्भवन्ति विविधा दोषाः। परान्नभोक्तारं परान्नदोषाः शनैः शनैस्तेजोविहीनं निरुत्साहं कान्तिहीनं राष्ट्रियभावनाविरहितं च कर्त्तुमर्हन्ति। यदा यदा यस्मिन् राष्ट्रे राष्ट्रजनैः परप्रदत्तमन्नमथितं तदातदा तस्मिन् राष्ट्रे राष्ट्रजनानां हृदयानि

राष्ट्रियभावनावियुक्तानि जातानि। यथा—

पर ऋणा सावीरधमत्कृतानि,
माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्।
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषास
आ नो जीवान् वरुण तासु शाधि।।

ऋक् 2/28/9

राष्ट्रसंरक्षणसंसिक्तचित्तैः पुरुषैः प्रत्यहं सरस्वती समर्चनीया सरस्वत्या अर्चनं विना मनसि नैर्मल्यमात्मोल्लासश्च नोत्पद्यते। येषामात्मनि पवित्रता न विद्यते चित्ते च नास्ति स्थैर्यं ते राष्ट्रविषये शुद्धं न चिन्तयन्ति। शुद्धचिन्तनं विना राष्ट्रियचेतनोद्भवः कुतः। राष्ट्रनायकैः सरस्वत्या विस्ताराय विविधा उपाया अन्वेष्टव्याः। तद्विस्तारे विरोधं जनयन्तो जना पापिष्ठा भूत्वा भवन्ति दुःखभाजः।

ये सारस्वतास्त एव सरस्वतीदत्तवरप्रसादाः विविधविद्यापारङ्गता भूत्वा राष्ट्रविषये सततं भवन्ति सचिन्ताः। सरस्वत्याः स्तोतारं प्रचारकं प्रवाचकं उद्गातारं वा यो मन्दः समवरुणद्धि सः पापीयान् जायते। स्वगत्यवरोध्दारं दुर्जनं जनं प्रत्याह सरस्वती—

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं तुभ्यं नृपते अत्तवे।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाधाम्।।
अक्षदुग्धो राजन्यः पाप आत्म पराजितः।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः।।
न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव।
सोमोह्यस्य दायादिन्द्रो अस्याभिः शास्तिपाः।।
ये सहस्रमराजन्नासन्दश शता उत।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्या पराभवन्।।

अथर्व 5/18/1,2,6,10

राष्ट्रियभावनाणरितान्तःकरणैं स्वदेशभक्तैः सरस्वत्याः प्रसादनाय वेदमन्त्रैतत्स्तवनं विधेयम्—यथा

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि।।
त्वे विश्वा सरस्वति श्रितायूषि देव्याम्।
शुनहोत्रेषु मत्स्व प्रजां देवि दिदिड्ढि नः।।

ऋक् 2/41/16—17

राष्ट्रियभावनां चिरं जीवयितु त एव जनाः प्रभवन्ति ये स्वकर्त्तव्यं जानन्ति। कर्त्तव्यबोधाभावे राष्ट्रियता दीयते। ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च स्वस्वकर्त्तव्यं विज्ञाय यद्यत्कुर्वन्ति तत्तद्राष्ट्रहितेच्छयैव। यदा जनाः स्वकर्त्तव्यावबोधे प्रसुप्ताः परकर्त्तव्यावबोधे च प्रबुद्धा भवन्ति तदैव राष्ट्रं विपद्ग्रस्तं भवति। राष्ट्रस्य क्षेत्रे–क्षेत्रे नगरे–नगरे देशे–देशे विभागे–विभागे च विषण्णता विपन्नता खिन्नता दीनता हीनता असहिष्णुता निर्मनस्विता जडता अन्धता स्वार्थता च परिदृश्यते श्रूयते च। अतः स्वराष्ट्ररक्षणप्रहितेक्षणा ये सुजनाः सन्ति ते स्वकर्त्तव्य–सम्पादने सन्तु निरालसाः। उक्तं वेदे–

केतुं यज्ञानां विदथस्य साधनं
विप्रासो अग्निं महयन्त चित्तिभिः।
अपांसि यस्मिन्नधि संदधुर्गिर–
स्तस्मिन्त्सुम्नानि यजमान आ चक्रे।।

ये परदेशीया कथयन्ति यद् भारतं वयं रक्षामः, वयं पालयामः, वयं पाठयामः, वयं साधयामः, वयं सञ्चालयामश्च, मन्येऽहं यत्ते जना न जानन्ति। भारतीया परमुखापेक्षिणो न सन्ति भारतीयानां यद्ब्रह्मज्ञानं विद्यते तेनैव काले–काले रक्षार्थ रक्षाकवचायितम्। भारतीयो जनो मनोः प्रसूतिर्विद्यते, "स्ववीर्यगुप्ता हि मनोप्रसूतिः" कालिदासस्य सूक्तिरियमद्यापि वेदमन्त्रानुगामिनी सत्यार्थवती च विभाति। वेदानुसारं भारतीयैर्ज्ञानबलेनैव संसारे सर्वमर्जितम्। भारतीया न परबलाश्रिता नापरान्नश्रिता नापि परविद्याश्रिता आसन्। वेदे यथोक्तम्–

य इमे रोदसी उमे अहमिन्द्रमतुष्टवम्
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्।।
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकंमृतमस्माकं।
तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकम्।
स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।।

अथर्व 16/8/1

स्वयं वाजिस्तन्व कल्पयस्व,
स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व
महिमा ते अन्येन न सन्नशे।।

यजु 23/15

वेदे राष्ट्रजीवनाधायकानि सप्ततत्त्वानि वर्णितानि। यत्र प्रतिपलं जायते सप्ततत्त्वोन्मेषस्तत्र राष्ट्रीयभावना कदापि न क्षीयते। राष्ट्रजना यदा सत्यान्वेषणनिपुणाः सुव्यवस्थाचतुराः शत्रुसंहारव्युग्राः,

सुदक्षविपश्चिद्गुरुजनदीक्षिताः, तपोवहितापपरिपूतान्तःकरणा, ब्रह्मज्ञानप्रकाशविनष्टाज्ञानतिमिराः, यज्ञानुष्ठानकर्मकुशलाश्च भवन्ति तदा राष्ट्रभूमिः सर्वान् स्वक्रोडस्थान् पुत्रान् परिपाति। यथोक्तं वेदे–

सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवी धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।।

अथर्व 12/1/1

या अस्माकं मातृभूमिरस्ति तत्र वैश्वानरोऽग्निविभाति। सा भूमिर्विद्यते विश्म्भरा वसुधानी च। यस्या मातृभूमेः क्रोडस्था जना देवायमानाः अमृतं पिबन्ति रक्षन्ति चाप्रमादं स्वराष्ट्रम्। सा भारतभूमिरस्माकं मातृभूमिर्विद्यते। अस्माकं राष्ट्रस्य संस्कृतिः प्रथमा संस्कृतिः सैवः विश्ववारेति निगद्यते। यत्र वयं वसामस्तत्र कलकलनादवाहिन्यो नद्यो नवीनममृतं बहन्ति। राष्ट्रभूमिरियं त्रयाणां वर्णानां शोभामावहति। हिमवन्तो गिरयस्तद्यशोगाथां गायन्ति। उक्तं वेदमन्त्रे–

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवीस्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्।।

अथर्व 12/1/11

अस्माकं मातृभूमिस्तान् जनान्–

बिभर्ति ये विविधभाषाभाषिणः सन्ति। यथा धेनुरनैकाभिर्दुग्धधाराभिर्वत्सं पालयति तथैव मातृभूमिरियं सर्वान् पाति–यथा–

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।।

अथर्व 12/1/45

राष्ट्रवासिभिः राष्ट्राभ्युदयमभिलक्ष्य प्रार्थना करणीया यदस्माकं राष्ट्रे सर्वे जना सधनाः सपुत्राः सद्वृत्ताश्च सन्तु।

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारण्याः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय।।

अथर्व 12/1/50

एकस्मिन् वेदमन्त्रे राष्ट्रभूमिं मातरं मत्वा प्रार्थयते मनुष्यो यदहे पृथिवि तव मध्यभागं यानि वस्तूनि भूषयन्ति यानि नाभिमण्डलं मण्डयन्ति, यानि च वस्तुजातानि तवाखिलं वपुः शोभायुक्तं कुर्वन्ति तान्यस्माकं कुरु। हे भूमे त्वमसि मम माता पृथिव्या अहमस्मि पुत्रः, पर्जन्यो मम पिता चास्ति। यथा–

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जसतन्वः संबभूवुः।
तासु नोधेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।।

अथर्व 12/1/12

यस्मिन् रास्ट्रे राष्ट्रनायका धर्मकेतुं हस्ते निधाय शासनं कुर्वन्ति ते जानन्ति राष्ट्रमहत्तां। धर्मविहीना नरा नात्मानं रक्षन्ति न रक्षन्ति राष्ट्रभूमिम्–यथा

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं
पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनुचरेमविश्वहा।।

अथर्व 12/1/17

अस्माकं राष्ट्रे महतामृषीणां परम्पराः परिचकासति। नः पूर्वजा मन्त्रसारविदस्तत्त्वविदस्तपस्विनो वर्चस्विन ऊर्जस्विनश्च बभूवुः। तैरव महर्षिभिः राष्ट्रस्य रचनां विधाय तद्रक्षणायामृतमयी राष्ट्रियभावना संभाविता। यथा–

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः।
सप्तसत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह।।

अथर्व 12/1/39

भारते देशे षण्णामृतनामागमनं काले काले भवति। भारतं विहाय नान्यत्र क्वचिद् ऋतूनांषट्कं शोभां विकिरति। अस्माकं भारतभूमिः कापि विलक्षणा अतएव देवभूमीति विगद्यते। ऋतुनिर्मितः कालः समये–समये भरते भवति सुखकरः। यथा वेदमन्त्रे–

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्हेमन्तः शिशिरो वसन्त :।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्।।

अथर्व 12/1/36

एवं वेदमन्त्रेषु पदे–पदे राष्ट्रियभावना विभाति। वयं धन्या स्मः। अन्ते भगवन्तमभ्यर्थयामहे यद् यस्मिन् भारते वयं जातास्तस्य भारतराष्ट्रस्य भावना अस्माक जीवने दिने–दिने प्रतिष्ठां लभतामिति।

स्वस्ति न इन्द्रो बृद्धाश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु।।

• • •

उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप

- प्रो0 जयदेव वेदालंकार
डीन-प्राच्य विद्या संकाय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

1– ईशावास्योपनिषद्– वह परमात्मा कंपन नहीं करता है। परन्तु मन से भी वेगवान् है। ये इन्द्रियां उसे प्राप्त नहीं कर सकती हैं परन्तु वह इन्द्रियों से भी पूर्व विद्यमान है। वह स्थिर है, परन्तु अन्य को पीछे छोड़ देता है। उसी के कारण जो वायु स्वयं हल्की है अपने से भारी बल को उठा लेती है।[1] कुछ लोग इसका अर्थ यह करते हैं कि शुद्ध रुप से परमात्मा नहीं चलता अपितु शबल रुप में चलता है। इस प्रकार परमात्मा के दोनों रुप बन सकते हैं परन्तु यह आशय उपनिषद्‌कार का प्रतीत नहीं होता है। अतः ब्रह्म उभयरुप मानना ठीक नहीं है। आगे कहा है कि जब पुरुष इस सम्पूर्ण विश्व को परमात्मा के आधार पर समझता है और इस ज्ञान के पाने पर वह पुरुष पूर्ण प्रकार से सुरक्षित हो जाता है फिर किसी कि निन्दा स्तुति नहीं करता है। यहां पर इस वचन में ईश्वर ज्ञान का फल कथन किया गया है।[2] इस उक्त मन्त्र का अर्थ अद्वैतवादी यह करते हैं कि जब पुरुष इस सारे संसार को अपने आप में देखता और सारे संसार के भूतों में अपने आपको देखता है तो वह निन्दा स्तुति नहीं करता है।[3] इससे आगे ईशोपनिषद् में परमात्मा का निर्बीज समाधि द्वारा जब योगी साक्षात्कार करता हैं तो उस अवस्था में योगी समदर्शी हो जाता है,वह शोक और मोह से रहित हो जाता है। उसे अपने पराये का भेद नहीं रहता अपनी प्राणीमात्र में देखता है।[4] यहां यदि एकत्व का अर्थ ब्रह्म और जीव का अभेद होता तो मोह और शोक पद की आवश्यकता न होती अपितु यह कहा जाता है कि वह ब्रह्म हो जाता है। परन्तु जैसा कि योगदर्शन में व्याख्यान है कि योगी समाधि काल में ब्रह्म में अवस्थित हो जाता है या अपने स्वरूप को देख लेता है, आत्मतत्व का बोध होता है। अवस्था कहकर भेद ही प्रतिपादन किया गया है।[5] जिस परमात्मा के साक्षात्कार हो जाने पर योगी समदर्शी अवस्था को उपलब्ध कर लेता है उस ईश्वर का स्वरूप क्या है? इसका वर्णन करते हुए कहा है कि वह ईश्वर सब स्थानों पर गया हुआ है। शरीर रहित, नस नाड़ियों रहित भावों से रहित है, सब प्रकार से पवित्र, पापरहित, क्रान्तदर्शी ज्ञानी, सब जगह व्याप्त , स्वयं सत्ता वाला है। वह जैसा चाहता है वैसा भली प्रकार सृष्टि के पदार्थो को रचता है अर्थात्

धारण करता है। वह निरन्तर व्यवधान रहित सभी कल्पों से चला आ रहा है। जैसी व्यवस्था चाहता है वैसा प्रबन्ध कर रहा है।[6] ईश्वर के इस स्वरूप को सभी आचार्यों ने एकमत होकर स्वीकार किया है। कुछ आधुनिक प्रत्ययवादी विद्वान् अन्य अर्थ करते हैं। वे इस मंत्र में ब्रह्मवित्त परक अर्थ करते हैं, जो समीचीन नहीं है क्योंकि मंत्र के उत्तरार्द्ध में सृष्टि रचियता के रुप में ईश्वर को माना है। मुक्त आत्मा सृष्टि रचना कभी भी नहीं कर सकता है। यह सामर्थ्य तो केवल ईश्वर का ही है वेदान्त दर्शन का भाष्य करते हुये आचार्य शंकर भी यह मानते हैं कि मुक्त पुरुष सृष्टि रचना नहीं कर सकता है।[7] अतः उक्त मंत्र में ब्रह्म के स्वरूप का ही वर्णन है। इस मंत्र में ईश्वर के स्वरूप को विधेयात्मक और निषेधात्मक[8] हेतु से सिद्ध किया है। वह ईश्वर शुक्र, शुद्ध पर्य्यगात, कवि, मनीषी, परिभू, स्वयंभू, शाश्वतीभ्यः, समाभ्यः इन विशेषणों से युक्त है, यह उसके विधेयात्मक गुण है। अकामं, अव्रणं, अस्थाविरं, अपापविद्धं, इन विशेषणों से उसका निषेधात्मक रूपेण व्याख्या की है।

आचार्य शंकर ने ईश्वर को अज्ञानोपहित चैतन्य माना है। परन्तु ईशोपनिषद् में जो ईश शब्द आया है वह ब्रह्म के अर्थ में ही आया है। किसी भी उपनिषद् में ईश्वर को मायोपहित चैतन्य नहीं माना है। ऐसी श्रुतियों का अर्थ आचार्य शंकर यह कह कर करते हैं ये श्रुतियां व्यवहार काल को बतलाती हैं परन्तु मूल उपनिषदों को यह मान्य नहीं है कि एक श्रुति व्यवहारकाल की दूसरी पामार्थिक काल की है।

2. **केनोपनिषद्**—इस उपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन नाटकीय ढंग से किया है प्रारम्भ में ही प्रश्न किया है वह कौन सा देव है जो सब चक्षु, श्रोत्र और वाणी आदि इन्द्रियों को शरीर के साथ युक्त करता है। मन और प्राणों को भी कौन प्रेरणा देता है।[9]

इन सबका प्रेरणा देने वाला या शरीर के संयुक्त करने वाला वह देव परमेश्वर है। जिसको जानकर अमृत हो जाते हैं।[10] जो लोग ईश्वर को साकार मानते हैं, उनका खण्डन स्पष्ट रुप में किया गया है। उस देव परमेश्वर को चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है। मन भी जानने में असमर्थ है अर्थात् उस का साक्षात्कार आत्मा ही कर सकता है। उस ब्रह्म की महिमा वर्णन करते हुए कहा है कि ये चक्षु, श्रोत्र, वाणी और मन तथा प्राण सभी उस की शक्ति का आश्रय लेते हैं। अर्थात् जिस देव की शक्ति से आंख देखती है वाणी बोलती है, मन मनन करता है। श्रोत्र सुनते हैं और प्राण गति करता है, उसी को ब्रह्म जानो, वही उपासनीय है। जिसकी साधारणतः उपासना की जाती है वह वास्तव में ब्रह्म नहीं है।[11] जो

लोग यह कहते हैं कि हमने ब्रह्म को जान लिया वे अभी अल्प ही जानते हैं वह ब्रह्म शब्दों के द्वारा नहीं जाना जा सकता है।[12] इस उपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन रूपक द्वारा किया है। ये अग्नि, जल, वायु आदि देव उस महादेव की शक्ति के बिना कुछ भी नहीं कर सकते हैं। अग्नि में जलाने की वायु में उड़ाने की और जल में बहाने या गलाने की शक्ति उसी से प्राप्त होती है, इस का अभिप्राय यह है कि जड़ वस्तुओं पर नियमन वही ईश्वर करता हैं। तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्म अनुभूति या आत्मा के द्वारा साक्षात्कार करने का विषय है न कि केवल शब्द मात्र से जाना जा सकता है। उस को प्राप्त करने के लिये ध्यान योग द्वारा प्रज्ञा को प्राप्त कर समाधियों का अनुष्ठान करना होगा।[13] इस उपनिषद् में भी ब्रह्म की व्याख्या निषेधात्मक रुप में ही अधिक हुई है।

3. **कठ**—इस उपनिषद् में ब्रह्म के मुख्य नाम **ओ३म्** का प्रतिपादन यह व्याख्यान कर के किया है कि जिस का सब वेद वर्णन करते हैं और जिस को प्राप्त करने के लिये तप और ब्रह्मचर्यादि का पालन किया जाता है वह **ओ३म्** पद से कहा गया है। इसी ओंकार का उल्लेख अन्य उपनिषदों तथा वेदादि में मुख्य रुप से किया जाता है। कहते हैं उसी का अवलम्बन ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि परमाणु से भी सूक्ष्म होने के कारण परमात्मा अणु से भी अणु अर्थात् सब से सूक्ष्म है। आकाश आदि विभु पदार्थों से भी महान् है अर्थात् उस से महान् कोई नहीं है। साधक अपनी हृदयरूपी गुहा में विराजभान उस परमात्मा की महिमा, उस की कृपा से निष्काम कर्मी और शोक रहित होकर उस का साक्षात्कार करता है।[14] कुछ विद्वान् धातु शब्द का अर्थ मन आदि इन्द्रियों से करते हैं। परन्तु यह प्रतीत होता है क्योंकि वेद में भी धातु शब्द को धा धातु से तृच प्रत्यय करके धातु शब्द का निर्माण होना प्रतीत होता है।[15] यदि धा धातु से तुन् प्रत्यय से धातु शब्द का निर्माण किया जाय तो भी इस का अर्थ होगा पदार्थ मात्र जिस के आश्रित हो अर्थात् सब का धारण करने वाला उस का नाम धातु कथन किया है।[16] अतः परमात्मा का नाम धातु है। इन्द्रियों से धातु का ग्रहण नहीं किया जा सकता है। कुछ अन्य विद्वान् जो ईश्वर को साकार होना मानते हैं वे महान् से महान् का अर्थ अवतार करते हैं, उन से कोई पूछे क्या अवतार सर्वव्यापक होता है या एकदेशी। इस का खण्डन अगले मन्त्र से हो जाता है। वह ब्रह्म अपनी सत्ता से सर्वत्र गतिमान है अतः वह एक स्थान पर ठहरा हुआ भी दूर देश में जा सकता है। और सर्वव्यापक होने से लेटे हुए के समान वह व्याप्य वस्तुओं को सब ओर से घेरे हुये है। वह आनन्दस्वरूप होने से मद और इन्द्रिय जन्य हर्ष के न होने से अमद

कहलाता है।[17] ऐसा ही वर्णन ईशोपनिषद् में "तदैजति" कह कर किया है। परन्तु अद्वैतवादी इसे जीव का वर्णन मानते हैं परन्तु उन की यह भावना उपनिषद की भावना के विरूद्ध है, क्योंकि इस उपनिषद में तो अनेको ऐसे स्थल हैं जहाँ इस उपनिषद् में तो अनेकों ऐसे स्थल हैं जहां जीव ब्रह्म का भेद स्थापित किया है। उस ब्रह्म की व्यापकता और सूक्ष्मता का वर्णन करते हुए कहा है कि वह शरीधारियों में शरीर रहित है और अनित्य वस्तुओं में नित्य है तथा अवस्थित है। इस प्रकार का विभु व्यापक मानकर जो साधक उसकी सत्ता को स्वीकार करते है, वे शोक रहित हो जाते हैं।[18] यहाँ उपनिषद् ने औपाधिक ईश्वर का खण्डन अशरीर कहकर किया है। इससे आचार्य शंकर की इस मान्यता का खण्डन स्वतः हो जाता है कि वह चैतन्य मायोपहित होकर सौपाधिक हो जाता है। उसकी महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि उस ब्रह्म की शक्ति से ही सूर्य उदय होता है, उसी की शक्ति से अस्त होता है, समस्त देव उसी में अर्पित है अर्थात् उसका अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता है।[19] आगे व्याख्या है कि जो ब्रह्म इस जन्म अर्थात् इस लोक में हमारे कर्मों का नियन्ता है वह परलोक में भी नियन्ता है, जो परलोक में है वही यहां पर भी है उस प्रभु में जो नानात्व देखते हैं वे मृत्यु के ग्रास बनते है।[20] इस कथन के अनुसार बहु देवतावाद या नाना ईश्वर कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता भौतिक अग्नि के दृष्टान्त से दी गई है। जिस प्रकार एक ही अग्नि लोक लोकान्तरो में व्याप्त होकर प्रत्येक पदार्थ में तदाकार रुप में अवस्थित है इसी प्रकार एक अन्तर्यामी परमात्मा समस्त पदार्थों में व्यापक हो रहा है वह उनके अन्दर ही नहीं अपितु बाहर भी विद्यमान है।[21] इस कथन के अनुसार बहु देवतावाद या नाना ईश्वर कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती है। इसी के दृष्टान्त से उसकी व्यापकता सिद्ध करते हुए माना है कि जैसे एक ही वायु समस्त लोक लोकान्तरों में प्रविष्ट हुआ तदाकार हो जाता है उसी प्रकार यह ब्रह्म भी सब भूतों का अन्तर्यामी होता हुआ उनके बाहर भी वर्तमान रहता है।[22]

अद्वैतवाद को मानने वाले केवल ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध हुआ मानते हैं परन्तु उनका खण्डन अगले मंत्र में ही उस ब्रह्म को निमित्त कारण मान कर दिया है। वह ऊर्ध्वमूल है अर्थात् कारणरूप में ऊपर है। उसका कार्यरूप में (जिसे शाखा रूप) जगत् नीचे है। यह अनित्य संसाररूप वृक्ष प्रवाह से अनादि है, ऐसा वृक्ष जिस ब्रह्म के आधार पर स्थित है वह ब्रह्म अत्यन्त ज्योति या पवित्र है, वही अमृत है, उसी में सभी देव अधिष्ठित हैं उसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता है।[23] हे नचिकेता यह वहीं ब्रह्म है जिसके विषय में तूने पूछा है। परन्तु

यहां पर प्रत्ययवादियों का विचार है कि उर्ध्व मूल का अर्थ उपादान कारण है परन्तु यहां उनका यह विचार इसलिए उचित नहीं कि यदि वहां पर ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान सिद्ध करने का उद्देश्य होता तो अवाक् शाख न होकर अवाक् मूल पद ही होता क्योंकि उपादान करण तो उर्ध्वमूल माना है। निमित्त कारण होने से शाखा पद के स्थान पर मूल पद ही होना चाहिये परन्तु यहाँ शाखा रूप में कार्य जगत् का वर्णन किया है। इस मन्त्र में ब्रह्म को आधार आधेय भाव से निरूपण किया गया है। आचार्य शंकर के मत में ब्रह्म ही सब कुछ होने से वह आधार आधेय निरूपण नहीं हो सकता, परन्तु यहां तो स्पष्ट रूप में उक्त निरूपण हुआ है। अश्वत्थ रूपी वृक्ष को कुछ आचार्य ब्रह्म रूप में मानते हैं परन्तु ऐसा अर्थ भी नहीं किया जा सकता हैं क्योंकि क्या ब्रह्म काल तक ही रहेगा।[24] इस के आधार पर शबलवादी जड़ पदार्थों की शबल रूप में उपासना करने का यत्न करते हैं। अर्थात् शाखा से मूल तक जाना परन्तु यह मान्यता प्रत्यक्ष के विपरीत है। प्रत्यक्ष में सभी मूल से शाखा की ओर जाते हैं। साकार पूजा का खण्डन पीछे भी कठ ने किया है। अर्थात् जड़ वस्तुएं अमृत कभी नहीं हो सकती हैं। वह ब्रह्म ही अमृत है दूसरा कोई नहीं हैं।

4. **प्रश्नोपनिषद्**—उस उपनिषद् में ब्रह्म का निरूपण प्रश्नोत्तर रूप में किया है। ब्रह्म के विषय का विवेचन करते हुए ऋषि पिप्पलाद व्याख्यान करते हैं कि जैसे पक्षी अपने वासस्थान रूप में वृक्ष को प्राप्त होते हैं इसी प्रकार यह समस्त जगत् के पदार्थ उस ब्रह्म में ही निवास करते हैं अर्थात् उस परमात्मा से सूक्ष्म कोई भी नहीं है।[25] इतना ही नहीं अपितु आगे वर्णन किया है कि जो उस प्रसिद्ध ब्रह्म को अज्ञान से रहित, शरीर से रहित, रक्तादि व्रणों से रहित, प्रकाश स्वरूप, अविनाशी, परमात्मा भली प्रकार जानता है अर्थात् परम सूक्ष्म ब्रह्म का ज्ञाता सब कुछ जान लेता है और तदरूप अर्थात् उसके गुणों को धारण करके महान् हो जाता है।[26] यहां अभिप्रायः यह है कि उस ब्रह्म को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है, कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है। यह केनोपनिषद् में भी कहा है।[27] यहां पर अद्वैतवादी सर्वज्ञः का अर्थ करते हैं कि वह जीव ब्रह्म होकर सर्वज्ञ हो जाता है परन्तु यह समीचीन नहीं है क्योंकि अद्वैतवादी सर्वज्ञता आदि गुण शुद्ध ब्रह्म में नहीं मानते हैं फिर सर्वज्ञ का अर्थ ब्रह्म बन जाना मानना असंगत है। यहां अभिप्राय यह है कि सर्व जानाति इति सर्वज्ञः अर्थात् ब्रह्म को जानने पर समस्त विश्व को जानने वाला हो जाता है।[28] यहां परमात्मा को व्यापक बतलाकर उसके स्वरूप की निषेधात्मकरूप में व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस उक्त उपनिषद् में ब्रह्म

की महिमा, सर्वव्यापकता और वह जड़ पदार्थों से भिन्न है, उसकी संक्षिप्त रूप में व्याख्या प्रस्तुत की है।

5. **मुण्डकोपनिषद्**—वह ब्रह्म अत्यन्त दिव्य, मूर्त धर्मों से रहित सर्वत्र व्यापक, प्रत्येक पदार्थ के बाहर और भीतर है। इसीलिए वह उत्पत्ति से रहित है, प्राणों से रहित, मन से रहित है प्रकाश स्वरूप है। अव्याकृत प्रकृति से परम सूक्ष्म है।[29] समस्त संसार के पदार्थो में निरूक्तकार यास्क मुनि के अनुसार षड् भाव उपलब्ध है। सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं; बढ़ते हैं, परिणाम को प्राप्त होते हैं, वय को प्राप्त होते हैं और तदुपरान्त नाश को प्राप्त हो जाते हैं।[30] परमात्मा इन षड् भावविकारों से रहित है इसलिए उसे अमूर्त कहा है अर्थात् वह निराकार है। उस निराकार ब्रह्म से ही मन, प्राण और इन्द्रियां आदि उत्पन्न हो जाते हैं, उसी से पृथ्वी आदि उत्पन्न होते है यहां निमितकारण के रूप में ब्रह्म का वर्णन हुआ है।[31]

ब्रह्म का रुपक द्वारा वर्णन किया है। यदि हम उसे मूर्त रुप में रखना चाहें तो यह अग्नि उसका मुख है। चन्द्र और सूर्य उसकी आंखें है, वायु प्राण हैं,समस्त विश्व उसका हृदय स्थान है। पृथिवी पादस्थानीय है, ऋग्वेदादि उसकी खुली हुई वाणी है। वास्तव में सब ब्रह्म सबका अन्तरात्मा हैं।[32] यह अलंकार रूप में उस विराट् ब्रह्म का स्वरूप निरूपित किया हैं। ये अग्नि आदि अवयव उसमें आरोपित हैं वस्तुतः नहीं, क्योंकि वह तो सर्वभूतान्तरात्मा है। वही समस्त सृष्टि की रचना करता है।[33]

वह ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्ववित है, उसकी महिमा सृष्टि रचना से परिलक्षित हैं, वह परमात्मतत्व हृदयकमल रूप आकाश में वर्तमान है, ज्ञान रूप है, प्राण और शरीर का चलाने वाला है और प्रत्येक प्राणी में विद्यमान रह कर आनन्द की वृष्टि कर रहा है।[34] इस वर्णन को अद्वैतवादी जीव परक मानते हैं। परन्तु यहां तो उस ब्रह्म का प्रतिपादन है क्योंकि आगे कहा है कि वह ब्रह्म सर्वथा निष्कलंक है; वह ज्योतियों की भी ज्योति है। उसे आत्मविद् विद्वान् जानते है। यहां रुपकालंकार द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, स्पष्ट रुप में कहा है कि वहां सूर्य का प्रकाश नहीं है। चन्द्रमा नक्षत्र, विद्युत और अग्नि उसको प्रकाशित नहीं करते हैं, वास्तव में उसी की अनन्त शाश्वत शक्ति से समस्त भूमण्डल प्रकाशित हो रहा है।[35] इसके अनन्तर उस ब्रह्म की सर्व व्यापकता का विशद् रुप में उल्लेख करते हुए कहा है कि यह अमृत रुप ब्रह्म सबसे पूर्व था, बाद में भी रहेगा। दक्षिण, उत्तर, नीचे, ऊपर सभी स्थानों पर ब्रह्म ही फैला हुआ है। ब्रह्म ही विश्व में वरिष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ है यहां पर ब्रह्म को सजातीय,

विजातीय और स्वगत भेद से रहित बतलाया गया है। अर्थात् जगत् से पूर्व ब्रह्म ही था अर्थात् यह रूपात्मक जगत् अव्याकृत प्रकृति में लीन था। वह प्रकृति ब्रह्माश्रित होने के कारण ब्रह्म के सजातीय भेद की आपादक न थी, इसलिए ब्रह्म को सर्वात्मत्वेन कथन किया गया है और ऊपर, नीचे, दक्षिण, उत्तर भाव से कथन किया है कि अनवच्छिन्न सत्ता से एकमात्र ब्रह्म ही समस्त दिशाओं में है। इसलिये कहा है कि वह ब्रह्म सर्वश्रेष्ठ है।[36] यहां यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म का स्वरूप जीव से भिन्न है। इससे अधिक उपनिषद् और क्या स्पष्ट करेगी कि दीप्ति वाला ब्रह्म अणु से भी सूक्ष्म जिसमें लोक लोकान्तर निवास करते हैं और समस्त प्राणी भी अवस्थित हैं वह अक्षर ब्रह्म है। वही सब शक्तियों की शक्ति है। हे सोम्य वही जानने योग्य है।[37] इस उपनिषद् में ब्रह्म को परम ब्रह्म रूप में वर्णित किया है। अतः परम विशेषण केवल ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ है।[38] अतः ब्रह्म ही से परम सब दृष्टियों से है। जीवात्मा ब्रह्म (महान्) हो सकता है परन्तु परम ब्रह्म कदापि नहीं हो सकता है।

6. **माण्डूक्य**—माण्डूक्य उपनिषद् में ओंकार का वर्णन बहुत अधिक सूक्ष्मता और गहनता के साथ हुआ है।

ओ३म् यह जो वस्तु या ओ३म यह जो आत्मा है, सो यह अक्षर है। अक्षर का अभिप्रायः यह है कि जिसके गुण, कर्म और स्वभाव कदाचित् भी न बदले जैसे कोई कहता है कि जो यह अग्नि प्रज्वलित पदार्थ है, यहां कहने वाले का अभिप्राय यह है कि अग्नि जो मुख से बोला वह नहीं, और अग्नि शब्द स्याही से लिखा वह भी नहीं अपितु जलता हुआ साक्षात् अग्नि पदार्थ अभिप्रेत है। इसी प्रकार ओ३म् जो तत्व है, या ओ३म् रूप जो आत्मा है सो यह अक्षर अर्थात् एक रस निर्विकार है न कि मुख से या स्याही से लिखा ओ३म् शब्द। यह समस्त जगत् उसका उपाख्यान है। भूत कालिक, वर्तमानकालिक और भविष्यकालिक यह सब ओंकार ही है। इसके अतिरिक्त तीनों कालों से अतीत भी ओंकार ही है।[39] यहां पर यह द्रष्टव्य है कि इस जगत् को उसका उपाख्यान कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि समस्त ब्रह्माण्ड उस परमात्मा की सत्ता का एक सूचक होने से उसका उपाख्यान है। जैसे मूलमन्त्र या मूलसूत्रों पर के गूढ़ अर्थो को उनकी टीका प्रस्फुटित कर देती है। इसी प्रकार यह चराचरात्मक जगत् ईश्वर के महत्व का बोधक होने से उसका व्याख्यान रूप है। इन तीनों कालों के अन्तर्गत जो कार्य रूप जगत् वह ओंकार का रचा हुआ होने से ओंकार की महिमा का वर्णन है।[40] आचार्य शंकर माण्डूक्य उपनिषद् पर भाष्य करते हुए हैं कि ओ३म् अक्षर ही सब कुछ है यह अभिधेय

(प्रतिपाद्य) रूप जितना पदार्थ समूह है, वह अपने अभिधान (प्रतिपादक) से अभिन्न होने के कारण और सम्पूर्ण अभिधान की ओंकार से अभिन्न होने के कारण यह सब कुछ ओंकार ही है पर ब्रह्म भी अभिधान अमिधेय (वाच्य वाचक) रूप उपाय के द्वारा ही जाना जाता है। इसलिए वह भी ओंकार ही है। यह जो परापर ब्रह्म रूप अक्षर ओ३म् उसका उपाख्यान ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय होने के कारण उसकी समीपता से स्पष्ट कथन का नाम उपाख्यान है।

आचार्य शंकर एक प्रकार से अभिधान अभिधेय सम्बन्ध मान रहे हैं परन्तु यथार्थवादी व्याख्याकारों का कथन है कि बोध्य–बोध सम्बन्ध से ब्रह्म का वर्णन हुआ है। ओंकार का विवेचन करते हुए कहा है कि उक्त लक्षणों वाला यह सर्वत्र गमन करने वाला आत्म ब्रह्म समस्त पदार्थों से महान् है, यह आत्मा चार प्रकार के विभूति रूप पादों वाला है।[41] सभी कालों में जितना वस्तु जगत् है यह सब उस पुरुष की महिमा है। समस्त ब्रह्माण्ड उसके एक पाद स्थानीय है और उसके तीन पाद अमृत रुप हैं। जिस प्रकार यजुर्वेद में चार पादों का कथन है। इसी प्रकार यहां इस उपनिषद् में भी चार पादों का विन्यास है। जिस आत्मतत्व के उक्त चार पाद वर्णन किये गये हैं वह निश्चित रूप से जीवात्मा नहीं है किन्तु ब्रह्म रूप आत्म तत्व है। इसी भाव से अयं आत्मा कहा गया है। परन्तु अयं आत्मा से अद्वैतवादी विद्वान् जीवात्मा ग्रहण करते हैं। जो उक्त हेतु से उचित प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि ब्रह्म के अर्थ में आत्मा शब्द अनेकों स्थलों पर आया है। परन्तु जीव और ब्रह्म में अभेद सिद्ध करने के लिए अद्वैतवादी इसी प्रक्रिया का आश्रय लेते हैं। यदि यहां अयं आत्मा ब्रह्म का अर्थ यह होता है कि जीव रूप आत्मा ब्रह्म है तो "अयमात्माचतुष्पात्" यह पद कभी नहीं हो सकता है क्योंकि आत्मा के भेदों या पादों का वर्णन कहीं भी नहीं हुआ है अपितु ब्रह्म के चतुष्पाद का वर्णन वेदों में आया है। जैसा कि हम अभी देख आये हैं। अतः सिद्ध हुआ कि यहां पर ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है।

परमात्मा का प्रथम पाद के रूप में व्याख्यान इस प्रकार है– जीव जाग्रत अवस्था में बाहर के पदार्थो का प्रकाशक है इस लिये उसे बहिप्रज्ञः कहा है। दो आंख, दो कान, दो नाक तथा एक मुख में उसके सप्तांग कहलाते हैं। पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और मन बुद्धि चित्त अहंकार ये सब मिलकर उन्नीस मुख वाला जीवात्मा को कहा है। अर्थात् ये 19 तत्व मुख्य रूप में हमारे शरीर में हैं। यह जगत् स्थान रूप में तैजस रहा है क्योंकि स्वप्नावस्था में तैजसी निद्रा प्रधान होने से तैजस है। अन्तः प्रज्ञ रूप में कहा है। जिस अवस्था में पुरुष न

किसी कामना की इच्छा करता और न कोई स्वप्न देखता है। सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती है वह सुषुप्ति रुप तृतीय पाद है। यह तीनों पादों का वर्णन संक्षिप्त रूप में किया है। वास्तव में ये तीनों पाद जीवात्मा की तीन अवस्थायें हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। सुषुप्ति में आनन्दमय अवस्था का वर्णन है यदि जीव ब्रह्म का अभेद कहा जाता तो चतुष्पाद में ब्रह्म का उल्लेख न किया होता,[42] वास्तव में यह प्राज्ञः नामा जीव का वर्णन है। ये विश्व, तैजस और प्राज्ञ तीनों एक ही जीव की अवस्था भेद से संज्ञा विशेष हैं। परन्तु अद्वैतवादी जिस प्रकार अवस्था भेद से जीवन को तीन संज्ञा मानते हैं।[43] इसी प्रकार ब्रह्म की भी वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ये तीनों संज्ञा मानते है। ये तीनों मायोपहित चैतन्य हैं। परन्तु यर्थाथवादी दृष्टिकोण के अनुसार विराट् आदि तीन शरीर तथा हिरण्यगर्भादि तीन भेद मानना ठीक नहीं है। उपनिषदों में इनका कहीं भी वर्णन नहीं पाया जाता है। कि ब्रह्म से विवर्त होकर ईश्वर हिरण्यगर्भ आदि का मायोपहित चैतन्य रूप निर्माण होता है। ये उक्त सभी नाम तथा अन्य सहस्रो शब्द परमात्मा के ही वाचक हैं। इन शब्दों के प्रसंगानुसार अन्य अर्थ भी हो सकते हैं। जैसे कठोपनिषद् में एक स्थान पर वैश्वानर शब्द का प्रयोग अग्नि के लिये हुआ है। ईश्वरवाची नाम में इसका अर्थ है कि समस्त विश्व का रचने वाला अर्थात् विश्वव्यापक।[44] परन्तु वैश्वानर आदित्य अर्थ में भी आता है।[45] आचार्य शंकर भी तीनों अर्थों में वैश्वानर शब्द का अर्थ स्वीकार करते है।[46]

अतः उक्त तीनों पादों में जीव का ही वर्णन है, परमात्मा का नहीं। वह परमात्मा जिसका चतुर्थ पाद में वर्णन किया गया है, वह सम्पूर्ण जगत् का स्वामी, सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी वह सब का कारण है। क्योंकि उससे समस्त भूतादि की उत्पत्ति होती है। उक्त तीनों पादों में जिस जीव का वर्णन किया था उससे विलक्षण ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया है कि वह ब्रह्म जाग्रत, स्वप्न में जीव जो बहिप्रज्ञ और अन्तः प्रज्ञ वह इससे भिन्न है अर्थात् वह तो सर्वज्ञ है। न ही अप्रज्ञ अर्थात् जड़ प्रकृति भी नहीं है। अदृश्य, सूक्ष्म होने के कारण अव्यवहार्य है, अर्थात् इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है। सब चिन्हों से वर्जित है। आनन्दस्वरूप और सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य, ऐसे ब्रह्म को जो मानते हैं वह परमात्मा हैं और वही जानने योग्य हैं।[47]

इस चतुर्थ पाद में ब्रह्म का वर्णन स्पष्ट रूप में जीव से भिन्न किया है। यदि ऐसा अभिप्रेत न होता तो यहां स्पष्ट कहा होता कि वह जीवात्मा अज्ञान से दूर होकर चतुर्थ के रूप में ब्रह्म हो जाता अथवा वही ब्रह्म है। — क्रमशः

सन्दर्भ संकेत

1– ईशोपनिषद् – 5 ।।
2– यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुमुप्सते। ।ई0उ0 6 ।।
3– यहां प्रकरण में आत्मा शब्द का अर्थ ब्रह्म के लिए प्रयुक्त है जबकि अद्वैतवादी यहाँ अपने अर्थ में ग्रहण करते हैं। जब पहले से परमात्मतत्व का वर्णन हैं तो आत्मा का अर्थ परमात्मा लेना उचित नही। आर्यमुनि।।
4– ईशो07–"तत्रकोमोह कः शोक एकतत्वमनुपश्यतः" यहाँ एकत्वम् का अर्थ है–एकता–ममता–एक दृष्टि उस अवस्था में योगी जाति, सम्प्रदायों से ऊपर उठकर निष्पक्ष हो जाता है।
5– तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थनम्–यो0 1/3।।
6– सपर्या................ईशो0 8।।
7– जगद व्यापार वर्ज प्रकरणादंसनिहितत्वाच्च–वेदान्त0 4/4/17
8– पांजिटिव–नेगेटिव।।
9– केन–प्रथमं – केनेषिताँ पतति............।।
10– क्षोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो.............। केन प्रथम खंड 1–2।।
11– केन–यत् श्रोत्रेण...........तदेव ब्रह्मम्–केन–प्रथमखण्ड–4/5/6/7/8।।
12– यदि मन्यसे सुवेदइति..........वही–9।।
13– केन द्वितीय खण्ड–तथा तृतीय खण्ड ।।
14– अणोरणीयान्महतो महींपान्............ऋग0 2/20।।
15– सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्–ऋग0 8/48/2।।
16– धीयते सर्वमस्मिन् दधाति सर्ववेति धातु।
17– आसीनो दूरं व्रजति–कठ0 241।।
18– अशरीरं शरीरेषु................।।
19– कठ0 – 24/9।।
20– कठ0 – 4/10।।
21– कठ0 – 2/22 ।।
22– कठ0 – 5/9–10।।
23– कठ0 – 7–1।।
24– शबल ब्रह्मवादी मानते है कि ब्रह्मरुपी वृक्ष शाखा रुप में शबल और मूल रुप से शुद्ध है। परन्तु यह मान्यता निराधार प्रतीत होती है क्योंकि जड़ पदार्थों की पूजा का खण्डन उपनिषदों में सर्वत्र व्याप्त है।

25– प्रश्नोपनिषद् – चतुर्थ–प्रश्न–7।।

26– वही–चतुर्थ–प्रश्न–10।।

27– तस्मिन्नेवविज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं, विज्ञातं भवति।।

28– पं0 सत्यकाम विद्यालंकार का भाष्य द्रष्टव्य। आर्यमुनि, ब्रह्ममुनि, भाष्य द्रष्टव्य।।

29– दिव्योह्यमूर्त मुण्डक0 2–खण्ड 1–2

30– अस्तिजायतेवर्धतेविपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति इति षड् भावविकाराः। निरू0 1–2

31– मुण्डको0 2–3।।

32– अग्निमूर्धा–मु0 2/1/4।।

33– 2/1/5, 6,7,8 ।।

34– यः सर्वज्ञः मुण्ड0 2/2/7।।

35– मुण्डक0 2/2/10।।

36– आर्यमुनि भाष्य द्रष्टव्य।

37– मुण्डक–2/2/1।।

38– उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन युक्ति (हेतु) प्रधान न होकर अनुभूति प्रधान है। स्वामी ब्रह्ममुनि।।

39– ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति। यदिदमर्थजातभिधेय भूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकात अभिधानस्य चोंकाराव्यतिरेकादोंकार एवेदं सर्वम्। तस्यैतस्य परापरब्रह्मरूपस्याक्षरस्योमित्येतस्योपव्याख्यानम। माण्डूक्य–शंकरभाष्य–पृष्ट 25।।

माण्डूक्य–1।। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्व तस्योपख्याख्यानं मतं। भवदभष्यदितिसर्वमोकांर एवं पचन्यतिकालातीत तदप्योंकार एव अग्निरिति प्रज्वलित पदार्थ।।

40– इदं सर्वतस्योपाख्यानम् इन्द्रियगोचर सर्वक्रियात्मक और ज्ञानात्मक जगत् क्रियात्मक । उस ओ३म् रुप आत्मा का बोध कराने वाला व्याख्यान है। स्वामी ब्रह्ममुनि–माण्डूक्य।।

41– एतावानस्य महिमातोज्यांयांश्च.........यलु0 21/30।।

42– आचार्य शंकर और दूसरे अद्वैतवादी इन तीन पादों को अभेदरुप, विश्वानर, हिरण्य ईश्वर रुप कहते हैं।

43– वैश्वानरः प्रविश अतिथि ब्राह्मणोगृहान्–कठ0 1–7।।

44– वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्–ब्र0सू0 1/2/24।।

45– स एषः वैश्वानरो विश्वरूपः–प्रश्न01/7।।

46– वैश्वानरशब्दस्तु त्रयाणां साधारणः। ब्र0 सू0 2/24 शंकर भाष्य।।

47– अपात्रश्चतुर्थोअव्यवहार्य–माण्डू0–12।।

• • •

तत्त्वमीमांसा के वैदिक आधार

डॉ0 शशिप्रभा कुमार
रीडर, दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय चिन्तन परम्परा में मूल तत्त्व की मीमांसा को ही दर्शनशास्त्र का चरम लक्ष्य माना गया है, अतः व्यापक दृष्टि से 'तत्त्वमीमांसा' को दर्शन का पर्याय कहा जा सकता है। यद्यपि व्युत्पत्ति के अनुसार 'दर्शन' शब्द का अर्थ देखना या साक्षात्कार होता है, तथापि सभी प्रकार के स्थूल दर्शन को 'दर्शनशास्त्र' नहीं कहा जा सकता। इसमें तो जगत् के सूक्ष्मतम, सर्वव्यापक तत्त्व का साक्षात्कार ही अभिप्रेत है। अतः यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है की जहाँ पाश्चात्य दार्शनिक विचारधारा में 'तत्त्वमीमांसा' दर्शनशास्त्र की एक शाखा मात्र है, वहाँ भारतीय विचारधारा के अनुसार मूल तत्त्व की मीमांसा ही दर्शन है।[1] वैदिक काल से लेकर अद्यावधि असंख्य विचारक और दार्शनिक उसी मूल तत्त्व की मीमांसा में संलग्न रहे– यह अलग बात है कि आज भी उस तत्त्व को इदमित्थंतया व्याख्यातित नहीं किया जा सका। संभवतः यही कारण है कि मानव–मनीषा सदा उस अव्याख्येय, दुर्बोध एवं गूढ़ तत्त्व के विश्लेषण में व्यग्र रहती है और इसीलिए भारतीय दर्शन की सभी शाखायें तत्त्वज्ञान को ही अपना परम प्रतिपाद्य मानकर प्रवृत्त होती हैं।

प्रस्तुत निबन्ध में तत्त्वमीमांसा के भारतीय परिप्रेक्ष्य को दृष्टि में रखकर उसके मूल उत्स वैदिक दर्शन[2] के आधार पर प्रकाश डालना अभीष्ट है। 'तत्त्वमीमांसा' पद तत्त्व और मीमांसा– इन दो शब्दों के मेल से बना है, तदनुसार इस निबन्ध को दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में मूल 'तत्त्व' के स्वरूप पर विचार किया जायेगा एवं द्वितीय भाग में उसकी 'मीमांसा' यानि ज्ञेयता निरूपित की जायेगी।

(1)

'तत्त्वमीमांसा' की दृष्टि से सर्वाधिक मौलिक प्रश्न यह है कि वह 'तत्त्व' क्या है जिसकी मीमांसा दर्शनशास्त्र का परम प्रयोजन कहा गया है। क्रान्तद्रष्टा वैदिक ऋषियों ने भी उसी अनन्त, अज्ञेय तत्त्व का साक्षात्कार करना चाहा, किन्तु उसकी अनिर्वचनीयता एवं रहस्यात्मकता से मुग्ध होकर वे कह उठे– किसने उसे जाना और किसने कहा ?

वस्तुतः वह मूल तत्त्व अच्युत संप्रश्न के रूप में सनातन काल से अज्ञेय रहा है तथा

युग–युगान्तर में दार्शनिक उसी संप्रश्न के समाधान हेतु प्रयासरत रहे हैं। वैदिक तत्त्ववेत्ता उस मूल तत्त्व का 'क' के रूप में दर्शन करते हैं –

कस्मै देवाय हविषा विधेम?[3]

–और उसे सभी लोकों का आधारभूत 'संप्रश्न' कहते हैं–

तं संप्रश्नं भुवनां यन्ति सर्वा।[4]

परम तत्त्व की इस प्रश्नरूपता एवं अनिर्वचनीयता को ही छान्दोग्य उपनिषद् में 'कं ब्रहम' और 'खं ब्रहम' कहा गया है– तत्त्वतः इन दोनों में कोई अन्तर नहीं; जो 'क' है, वही 'ख' है किन्तु आपाततः कहा जा सकता है कि 'क' उस अक्षर ब्रह्म का स्वरूप है तो 'ख' उसकी व्याख्या का प्रकार; 'क' तत्त्व है तो 'ख' उसकी मीमांसा, एक संप्रश्न है तो दूसरा समाधान। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर स्वयं प्रश्न की कुक्षि में से जन्म लेता है और उसी में विलीन हो जाता है, अतः 'क' ही मूल तत्त्व है, 'क' को जाने बिना 'ख' को नहीं समझा जा सकता।[5] इस दृष्टि से मूल तत्त्व की यह प्रश्नरूपता अद्वितीय है।

उल्लेखनीय है कि परम तत्त्व प्रश्नरूप होने से अज्ञेय एवं अनिर्वचनीय अवश्य है किन्तु फिर भी स्वभाव से जिज्ञासु और मननशील मनुष्य ने, उसकी शरण नहीं छोड़ी, प्रत्येक काल में भिन्न–भिन्न दृष्टियों से उसकी नित नूतन व्याख्यायें प्रस्तुत की जाती रही हैं और की जाती रहेंगी। इसमें निराशा और विषाद के लिए कोई स्थान नहीं है, केवल उस अनादि जिज्ञासा एवं अनन्त रहस्यात्मकता की प्रतिध्वनि है जो सतत प्रयास की प्रेरणा को ही मुखरित करनी प्रतीत होती है–

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।[6]

वैदिक वाङ्मय का पर्यालोचन करने पर स्पष्ट होता है कि उस 'क' रूप परम तत्त्व का निरूपण अनेक स्थलों पर 'यत्' के द्वारा भी किया गया है– यह भी इसी तथ्य को रेखांकित करता प्रतीत होता है कि मूल तत्त्व अनिर्देश्य है, उसे निश्चित रूप से जानना और वर्णित करना असम्भव है,

वि इदं ज्योतिः हृदये अहितं यत्। ऋ. 6/9/6
योऽसावादित्ये पुरुषः ....। यजुः
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। कठोप.

उसकी विविध छवियों की ओर इंगित करता हुआ यह 'यत्' विशेषण मूलतः परम तत्त्व की अज्ञेयता को ही व्यक्त करता है–

यः प्राणतो निमिषतो................।

यः आत्मदा बलदा...................।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्वः स्तंभितं येन नाकः। ऋ. 10/121/3–5

ध्यातव्य है कि **'यत्'** के साथ **'तत्'** का सम्बन्ध सनातन है। अतः जिस शाश्वत जिज्ञासा का आविर्भाव 'क' से हुआ था, और विकास 'यत्' में हुआ, उसकी परिणति **'तत्'** में होनी स्वाभाविक थी। इसीलिए वैदिक वाङ्मय में अनेकशः उस परम तत्त्व का उल्लेख 'तत्' से भी किया गया है–

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो....। ऋ. 3/62/10, साम. 1462, यजु. 3/35, 22/9, 30/10

तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। ऋ. 6/47/18

तमित् पृच्छन्ति न सिमो वि पृच्छति...।ऋ. 1/145/2

वस्तुतः 'तत्' रूप से जिसका निर्देश किया गया है, वही **'तत्त्व'** पद का मूल आधार है–

तद्+त्व=तत्त्व

अतः यह कहा जा सकता है कि जिज्ञासा की इस अनन्त यात्रा में 'किम्' से 'तद्' तक पहुँचना मानव–मनीषा की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रही है। अतः 'वह है' इतना जानना और कहना ही पर्याप्त नहीं रहा अपितु 'वह ही है', 'वही वह है'–ऐसा निश्चित उद्घोष भी वैदिक ऋचाओं में उपलब्ध होता है–

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तदु वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।। यजु. 32/1

उल्लेख्य है कि यजुर्वेद का उक्त प्रकरण 'तदेव उपनिषद्'[7] भी कहा जाता है। वास्तव में यही वह सनातन वैदिक दर्शन है जिसकी विवृति समस्त भारतीय साहित्य में हुई है। तदनुसार इस विनाशशील संसार में अविनाशी तत्त्व वही है, विभक्त सी प्रतीत होने वाली विविध वस्तुओं में वही अविभक्त 'तद' अनुस्यूत है– यही विविधता में एकता का दर्शन है, भीतर–बाहर जो कुछ भी है, वही वह है–

ईशावास्यामिदं सर्वम्। यजु. 40/1

व्याकरणिक दृष्टि से 'तद्' एक सर्वनाम है– इसका आशय यही है कि यह किसी वस्तुविशेष का नाम नहीं, अपितु वस्तुमात्र में अनुस्यूत भाव या सत्ता का सूचक है, वह नाम, जाति, लिङ्ग आदि सभी विशेषणों से परे हैं वस्तुतः उस अनन्त, असीम और अरूप की अपूर्वता अभिव्यक्त करने के लिए ही 'तत्' सर्वनाम का प्रयोग किया गया है और उस मूल वस्तुभूत 'तत्' का सार ही 'तत्त्व' है[8]। इस 'तत्त्व' की मीमांसा भारतीय दर्शन की सभी शाखाओं का चरम लक्ष्य रहा है, वस्तुसत् या परम तत्त्व का निर्दोष निःसन्दिग्ध विचार ही दर्शन है–

दृश्यते वस्तुयाक्षात्म्यमनेनेति दर्शनम्।

उक्त रीति से जिस परम तत्त्व को 'किम्' 'यत्' और 'तत्' कहा गया है, वही वस्तुतः

एक मात्र सत् है जैसा कि निम्न वैदिक वचन से सुव्यक्त है–

वेनस्तत्, पश्यान्निहितं गुहा **सत्**... यजु. 32/8

द्रष्टव्य है कि यहाँ 'तत्' और 'सत्' का एक पक्ष निर्देश हुआ है, साथ ही निरूक्त के परिशिष्ट में महान् आत्मा के जिन अनेक नामों की गणना हुई है, उनमें भी 'यत्' **'तत्' 'सत्'** और **'किम्'**– इन सबका समावेश है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि ये सब उसी मूल तत्त्व के वाचक हैं। इस कथन की पुष्टि में **'ॐ तत् सत्'** यह महावाक्य भी प्रमाण है जो भारतीय संस्कृति एवं दर्शन में आमूल विश्वास का भाजन है।

यहाँ यह उल्लेख करना भी अनिवार्य है कि यद्यपि असत् भी सत् का ही एक रूप है, सत् और असत् दोनों मिलकर ही तत्त्व कहे जाते हैं[9] तथापि सत् और असत् का मर्म केवल तत्त्वदर्शी ही जान पाते हैं; वे ही इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि असत् का कभी भाव और सत् का कभी अभाव नहीं होता।[10] इस दृष्टि से सत् और असत् दोनों एक ही तत्त्व के दो पहलू हैं, असत् के गर्भ में से ही सत् की उद्भूति होती है –

देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत। ऋ. 10/72/2

किन्तु स्वभावतः विवेकशील मानव के लिए यही उत्कृष्ट अभिलाषा हो सकती है कि 'हम असत् से सत् की ओर, तम से ज्योति की ओर तथा मृत्यु से अमृत की ओर अग्रसर हो।' इस भाँति असत् और सत् की तात्त्विक एकता ही वैदिक दर्शन का संकेत–सूत्र है। न केवल असत् और सत् की, अपितु सर्वत्र परिदृश्यमान विविधता में अन्तर्निहित एकता की अभिव्यञ्जना ही 'तत्त्व' का मौलिक स्वरूप हैं। नामभद और दृष्टिभेद होने पर भी वह मूल तत्त्व एक ही हैं– उसी एक की विविध रूपों में कल्पना की जाती है--

एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। ऋ. 10/114/5

वह एक ही 'सत्' है जिसकी विवेचना विद्वान् जन भिन्न–भिन्न नामों से किया करते हैं :–

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋ. 1/164/64

इन्द्र, प्रजापति, पुरुष अदिति, हिरण्यगर्भ, स्कम्भ और उच्छिष्ट ये सब उसी परम तत्त्व के भिन्न–भिन्न नाम हैं, जो जगत् का मूल आधार है और सर्वत्र ओतप्रोत है–

स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु। यजु. 32/8

ऋग्वैदिक नासदीय सूक्त के अनुसार जब न तो असत् था, न सत्; न अन्तरिक्ष था, न व्योम–तब भी केवल वही 'एक' था और अपनी ही सामर्थ्य से विराजमान था–

आनीदवातं स्वधया तदेकम्। ऋ. 10/129

वह एक है, अद्वितीय है–

एकमेवाद्वितीयम्।

यही वह सर्वव्यापक तत्त्व है जिसे जानकर मृत्यु के महाभय से मुक्त हुआ जा सकता है–

तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः ...। अथर्व. 10/8/4

अतः वही सर्वोपरि ज्ञातव्य है, उस एक के जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है और उसे जाने बिना सारा ज्ञान अधूरा एवं एकांगी है–

एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वैदिक ऋषि स्पष्ट शब्दों में उस परम तत्त्व को एकमात्र सत् एवं सर्वमय घोषित करते हैं तथा उसे ही ब्रह्म या आत्मा कहते हैं–

स एवायमात्मा ब्रह्म... सर्वमयः। बृ. 2/5/19

तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा।छान्दो. 8/14/1

स ब्रह्म तदित्याचक्षते। बृ. 3/9/9

उसी 'एक' आत्मतत्त्व को जानने का श्रुति में निश्चित निर्देश है–

तमेवैकमात्मानं विजानथ अन्या वाचो विमुञ्चत अमृतस्यैष सेतुः। मुण्डक 2/2/5

–क्योंकि वही मृत्यु से अमृत की ओर ले जाने वाला सेतु है। इस भाँति सर्वव्यापक वह सत् तत्त्व एक है।

वैदिक दर्शन के अनुसार वह तत्त्व जो 'एकं सत् है, चित् और आनन्द भी है। यद्यपि वह शुद्ध, अचिन्त्य, शाश्वत तत्त्व अनिर्वचनीय है, तथापि ज्ञानी जन उसका अपने अन्दर ही दर्शन करते हैं[11] क्योंकि चिद्रूप वह तत्त्व ज्योतिस्वरूप में उनके अन्दर व्याप्त है–

यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यजु. 34/3

स्वयंप्रकाशस्वरूप वह ज्योति एक होने पर भी सब ज्योतियों की प्रकाशक है–

उसी की क्रान्ति से सूर्य, चन्द्र, तारे और अग्नि– सब भासमान हैं– तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। कठ. 2/2/5

वस्तुतः यही वह 'अभय ज्योति' है जिसका वरदान जिज्ञासु अपने आराध्य 'आदित्य' से एवं मित्र, वरूण तथा इन्द्र से माँगता है।[12] यही ''अभय ज्योति'' हमारे भीतर–बाहर सब ओर व्याप्त है, इसी को अन्यत्र 'उरू ज्योति' कहा गया है।[13]

उक्त रूप से वर्णित तत्, सत् एवं चिद्रूप वह एक तत्त्व ज्योतिस्वरूप होने के साथ–साथ आनन्दस्वरूप भी है– सच्चिदानन्दघनं ज्योतिः। (नृसिंहोपनिषद्)

उसकी आनन्दरूपता का सहज साक्षात्कार तत्त्वदर्शी महर्षियों ने अपनी अन्तःप्रज्ञा की प्रखर प्रभा में ही किया था, तभी वे कह उठे–

आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं

प्रयन्त्यभिसंविशन्तिः। (तैत्ति0 उप0 आनन्दवल्ली)

इसी आनन्दस्वरूप तत्त्व की एक संज्ञा 'भूमा' है– भूमा ही अमृत है, नित्य है, सुख है–

यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति। (छान्दो 8/22)

वह भूमारूप सच्चिदानन्द ही परमार्थतत्व है और उसका दर्शन ही परमार्थ–दर्शन–

स एष सच्चिदानन्दात्मकोऽद्वयः सर्वात्मा पारमार्थिकः[14]।

उससे पूर्व कुछ नहीं था, उससे बढ़कर भी कुछ नहीं है– तदेतद् ब्रह्मापूर्वमपरवत्। शतपथ, 10/3/5/11

जैसा कि पूर्वोक्त है, इसी परमतत्त्व को आचार्यों ने 'ब्रह्म' की संज्ञा दी है, किन्तु वस्तुतः वह अनाम है– सत्, चित् और आनन्द उसका स्वरूप है। इनमें से 'सत्' उसका भौम, पार्थिव आधार है तो 'चित', दिव्य, ज्योतिस्वरूप है– ये दोनों अक्षय आनन्द तक ले जाने वाले हैं। वैदिक वाङ्मय में चतुष्पाद पुरुष का जो उल्लेख है–

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

उसके एक पाद में यह समस्त विश्व है तो तीन पाद अमृतस्वरूप, ज्योतिर्मय लोक में है क्योंकि अमृतत्व का प्रारम्भ ज्योति से होता है। इस ज्योति का प्रथम चरण अग्नि है, दूसरा विद्युत् तो तीसरा सूर्य, दिव्यता का उद्भव अग्नि से होता है; यही अग्नि विद्युत् में और विद्युत् सूर्य में परिणत होकर मूल ज्योति ब्रह्म तक पहुँचता है जो स्वयं ज्योतिस्वरूप है–

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः। शुक्ल यजु. 23/48

इसीलिए वैदिक ऋषियों ने जब बाह्य जगत् के सभी तत्त्वों के परम तत्त्व होने का 'नेति नेति' कहकर निषेध कर दिया। तब अपने भीतर प्रकाशमान उस ज्योतिस्वरूप ब्रह्म के ही तत्त्व होने का उद्घोष किया–

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
'तत्त्वं' पूषन्नपावृणु।। (यजु. 40/2)

इस भाँति बाह्य विश्व और ब्रह्म तथा ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य स्वीकार करते हुए ही उद्दालक आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को आठ बार 'तत्त्वमसि' का उच्चारण करने का आदेश दिया था–

तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो। छान्दो 6/8/7

यह 'तत्त्व' **तद+त्व** ही नहीं, इस दृष्टि से **'तत्+त्वम्'** भी जाना जाता है, इसीलिए तत्त्वदर्शी जन उसका दर्शन अपनी आत्मा के भीतर ही करते हैं–

तत्त्वं तत् 'तत् त्वम्' इत्येवं श्रुत्या नैकत्र गीयते।
अत एवात्मतत्त्वज्ञैरात्मन्येवानुभूयते।। (जीवन ज्योति, पृ. 224)

अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के मूल स्रोत वेद एवं उपनिषद् के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य इसी आत्मतत्त्व की अपरोक्ष अनुभूति है। तदनुसार जब तक अपने आपे को, इस 'स्व' के तत्त्व को साक्षात् अनुभव न किया जाये, तब तक 'दर्शन' अधूरा है–

तत्त्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढः शास्त्रेषु मुह्यति। अमन. 2/18

इसलिए उस तत्त्व के 'दर्शन' का ही प्रयास करना चाहिए–

अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञैस्तत्त्वमात्मनः। वि.चूड़ा. 60

उल्लेखनीय है कि आधुनिक विचारकों के अनुसार भी दर्शन का आरम्भ बिन्दु इसी 'प्रत्यङ्मुख चैतन्य[15] तत्त्व को माना जाता है। अतः यही तत्त्व का वास्तविक स्वरूप है।

(2)

'मीमांसा' का अभिप्राय है– विचारपूर्वक तत्त्व का निर्णय

लाघवज्ञानात्मकस्तर्कः। विचारपूर्वक तत्वनिर्णयः। न्या. को., पृ. 654

स्वयं श्रुति भी उक्त रीति से जाने गये 'तत्त्व' की मीमांसा का आदेश देती है–

मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्। केनोप. 2/1

अतः तत्त्व की मीमांसा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वही दर्शन का बीज है। यद्यपि यह भी सत्य है कि मूलतत्त्व के रूप में ब्रह्म वस्तुतः व्याख्या या मीमांसा से परे है, वह तो अनुभव का विषय है, तथापि मानव उस अव्याख्येय, अचिन्त्य, दुर्दर्श एवं निगूढ़ तत्त्व को सहसा नहीं अधिगत कर सकता। इसीलिए साधना के आरम्भिक स्तरों पर विचार या मीमांसा का ही आश्रय लेना पड़ता है–

विचाराज्जायते तत्त्वं तत्त्वाद्विश्रान्तिरात्मनि। योगवशिष्ठ 2/14/53

इस दृष्टि से तत्त्व की केवल श्रुति या मात्र स्वीकृति पर्याप्त नहीं, मनन या मीमांसा भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। कारण कि वह परमतत्त्व अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य और अव्यवदेश्य है– वह छोटे से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा है।[16] अन्य शब्दों में वह अतिव्यापक होने पर भी अतीव सूक्ष्म तत्त्व है, अतः सुविज्ञेय नहीं है। प्राचीन काल से विद्वान् जन इस विषय में जिज्ञासा करते रहे हैं,[17] किन्तु कठिनाई यही है कि न तो यह तत्त्व प्रवचन के द्वारा लभ्य है, न मेधा के द्वारा और न ही बहुत कुछ सुनते रहने से।[18] संसार में असंख्य जनों को तो उसके श्रवण का भी सौभाग्य नहीं मिलता और अधिसंख्य जन सुनते रहने पर भी कुछ समझ नहीं पाते क्योंकि वे इस विषय में सहज, अपरोक्ष, अनुभूति से शून्य होते हैं। यह

अपरोक्ष अनुभूति भी केवल तर्क के द्वारा प्राप्य नहीं,[19] अपितु मनन एवं श्रवण के मेल द्वारा अथवा 'अध्यात्मयोग' के द्वारा ही प्राप्तव्य है।[20]

इसका अभिप्राय यही है कि यद्यपि तत्त्वद्रष्टा ऋषियों के अनुभव असन्दिग्ध रूप से प्रमाण हैं, तथापि तत्त्व का मनन और मीमांसा भी अनिवार्य है। इसीलिए दर्शनशास्त्र के हेतुओं का परिगणन करते समय उस परमतत्त्व के साक्षात्कार के लिए सोपपत्तिक मनन का भी महत्त्व बताया गया है–

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः।।

यही तथ्य उपनिषद् के उस प्रसिद्ध उद्घोष में भी मुखरित हुआ है जहाँ आत्मतत्त्व के 'दर्शन' हेतु श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का उपदेश दिया गया है–

आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यों मन्तव्यों निदिध्यासितव्यः। बृ. उप. 2/4/5

अन्य शब्दों में, आत्मतत्त्व का दर्शन या साक्षात् अनुभव ही चरम लक्ष्य है किन्तु उसमें श्रवण, मनन या निदिध्यासन ये तीनों साधन हैं। अतः यद्यपि शास्त्रों में तो सिद्धान्तरूप से स्वीकृत तत्त्वों का प्रतिपादन है ही, तथापि प्रत्येक जिज्ञासु को विहित साधनों के द्वारा उन तत्त्वों का स्वयं अपरोक्ष अनुभव करने का स्वयंमेव प्रयास अवश्य करना चाहिए क्योंकि उस शान्त, चिद्रूप तत्त्व के ज्ञान में स्वानुभूति ही परम प्रमाण है।[21]

इस दृष्टि से यद्यपि तत्त्व–साक्षात्कार के लिए आभ्यन्तर प्रत्यक्ष ही सर्वोच्च प्रमाण प्रतीत होता है किन्तु ऐसा नहीं कि उसमें 'तर्क' या विचार का कोई स्थान नहीं। 'तर्काप्रतिष्ठानात्[22] का आशय यही है कि केवल तर्क हमें परमतत्त्व तक नहीं पहुँचा सकता, किन्तु श्रुति के मर्म को विशदतया प्रतिष्ठापित करने में 'मनन' की अनिवार्य मध्यस्थता तर्क और मीमांसा के महत्त्व को ही पुष्ट करती है। श्रवण और मनन के द्वारा प्राप्त सिद्धान्त का निदिध्यासन अर्थात् सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा परीक्षा या साक्षात्कार करना अनिवार्य है, तभी तत्त्व की उपलब्धि निर्णयात्मक हो सकती है और तत्त्व के विचारपूर्वक निर्णय को ही 'मीमांसा' कहा गया है। संभवतः तत्त्वमीमांसा को 'दर्शन' कहे जाने का आधार भी यही है। यह भी उल्लेखनीय है कि यहाँ 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग भी एक विशेष प्रयोजन को प्रकट करता है– परमतत्त्व के साक्षात्कार हेतु 'मीमांसा' साधन अवश्य है, किन्तु साध्य नहीं– न ही निरी मीमांसा उस साध्य तक पहुँचा सकती है।

इसमें भी सन्देह नहीं कि वह परमतत्त्व वाणी, मन एवं इन्द्रियों की पहुँच से परे है–

वाणी का सर्वप्रथम अवलम्बन है और वाणी का आद्य स्वरूप 'अक्षर' ब्रह्म का ही स्वरूप है, अतः यह कहा जाना सार्थक एवं सत्य है कि–

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म। (गीता, 8/13)

किन्तु वाणी की यह बाह्यमुखी अभिव्यक्ति उस ज्योतिस्वरूप ब्रह्म की केवल झाँकी ही दिखा सकती है, उसका 'इदमित्थंतया' वर्णन नहीं कर सकती। इसीलिए कहा गया है कि वाणी और मन की उस तत्त्व तक पहुँच नहीं है–

यतो वाचे निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। (तैति. 2/4/1)

वस्तुतः वाणी की वाक्शक्ति और मन की मननशक्ति वही ब्रह्म है, अतः वाणी और मन उसका वर्णन और निरूपण नहीं कर सकते क्योंकि उनकी सामर्थ्य एवं शक्ति तो वही तत्त्व स्वयं है। अन्य शब्दों में,जब मनन का लक्ष्य वही तत्त्व स्वय़ं हो, तब उसमें पहले श्रवण किये गये उक्त सत्य का भी समावेश होना चाहिए अन्यथा कोरा मनन खोखला है। जिनकी वाणी एवं मन द्वारा प्राप्त किये गये ज्ञान में उस परम तत्त्व का भान नहीं, वे तो सब कुछ जानकर भी अज्ञानीं हैं, यही निम्न श्रुतिवचनों का वास्तविक तात्पर्य है–

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्। (केन. 2/3)

यस्यामतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद सः। केन. 2/3

इसे इस भाँति भी कहा जा सकता है कि ऐन्द्रिक ज्ञान, जिसे हम साधारणतः प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि में रखते हैं और सर्वोच्च प्रमाण समझते हैं, वह उस मूलतत्त्व के साक्षात्कार में असमर्थ है क्योंकि आँखें उस तत्त्व को देख नहीं सकतीं और कान उसे सुन नहीं सकते; वस्तुतः वह तो चक्षु का भी चक्षु और श्रोत्र का भी श्रोत्र है– आँखें उसी की शक्ति से देखती हैं और कान उसी की प्रेरणा से सुनते हैं। अतः उसी परम तत्त्व को जानना– पहचानना वैदिक दर्शन के अनुसार जीवन का परम ध्येय है। जिसने उसे नहीं जाना, वह ऋचायें पढ़कर भी क्या करेगा।

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यिति ? (ऋ. 1/164/39, अथर्व. 9/10)

इसीलिए वैदिक तत्त्ववेत्ताओं ने उस परम तत्त्व की मीमांसा को सर्वोपरि महत्त्व दिया और उसकी अपरोक्ष अनुभूति को 'दर्शन' माना– यह दर्शन सिद्ध जनों की साधना से लभ्य है[23] और यही उनके ऋषित्व का आधार है।[24]

उल्लेख्य है कि कोरी बुद्धि अथवा निरे तर्क के आधार पर स्थापित सिद्धान्त कालविशेष अथवा स्थान विशेष में महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं किन्तु वे सनातन एवं सार्वभौम नहीं हो सकते।

यही कारण है कि केवल बाह्य, प्रतीयमान और स्थूल तत्त्वों की व्याख्या करनेवाली ज्ञानविधायें आपाततः प्रगति की ओर अग्रसर होती प्रतीत होती हैं किन्तु वस्तुतः वे उस मूलतत्त्व की ओर इंगित करने में अक्षम हैं। उनका परिदृश्य सीमित है और ज्ञान एकांगी, जबकि वैदिक तत्त्वमीमांसा का दृष्टिकोण सर्वांगीण है और आधार शाश्वत– इसीलिए यह वह 'ब्रह्मविद्या' है जो अन्य सब विद्याओं की प्रतिष्ठा है,[25] यही 'अध्यात्मविद्या' सब विद्याओं में शीर्षस्थानीय है।[26] यही वह 'सम्यक् दर्शन' है जो मनुष्य को संसार के आवागमनरूपी चक्र से मुक्त कराने में समर्थ है,[27] यही वह 'परा विद्या' है जिसके द्वारा अक्षर ब्रह्म की अधिगति होती है।[28] अन्ततः वही 'अक्षर ब्रह्म' मूल तत्त्व है जिसकी अधिगति चरम पुरुषार्थ है और जो समस्त साधना का परम ध्येय एवं सारी जिज्ञासा का अन्तिम लक्ष्य है–

ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। मुण्डक 2/2/4

उक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वरूपतः परम तत्त्व सत्, चित् और आनन्दरूप ब्रह्म है– यही वह आत्म तत्त्व है जिसके दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से सब कुछ जान लिया जाता है ओर जिज्ञासु साधक कह उठता है–

इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि। (शतपथ, 1/1)

वस्तुतः यही अनुभूति 'अहं ब्रह्मास्मि' के उद्घोष का अधिष्ठान है– 'तत्त्वमसिं' की परिणति यहीं आकर होती है– 'सोऽहम्' की यही भूमि है। वैदिक ऋषियों ने 'क' से जिज्ञासा की जिस यात्रा का श्रीगणेश किया, और 'यत्', 'तत्' एवं 'सत्' से जिसकी मीमांसा का मार्ग प्रशस्त किया और उसकी लक्ष्यस्थली यही है। 'कोऽहम्' से 'सोऽहम्' तक की यह साधना उसी परम तत्त्व की मीमांसा की कहानी है– इस सुदीर्घ श्रृंखला के मध्य विचारों का जितना आरोहण एवं विकास हुआ, यह भारतीय दर्शन की भव्य निधि है। यहाँ उसी निधान के मूल की ओर इंगित करने का स्वल्प प्रयास किया गया है।

सारांशतः उस अनन्त, अखण्ड, अज्ञेय तत्त्व की मीमांसा एक ऐसी सतत साधना है जिसमें गति ही प्राप्ति है और गन्तव्य वह परम आनन्दधाम है जहाँ पहुँचकर गति और गन्तव्य में कोई भेद नहीं रहता, केवल यह दिव्य अनुभूति होती है–

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।। (यजुं. 31/18)

सन्दर्भ संकेत

1. तत्त्वार्थे सम्यक् श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। तत्त्वार्थसूत्र (सर्वदर्शनसंग्रह पृ0 14 पर उद्धृत)
2. ऋग्यजुःसाम्नां त्रयं त्रयी सैव दर्शनम्। किरणावली, पृ0 177 (बड़ौदा संस्करण)
3. ऋ0 10/121/1–9
4. अथर्व 2/1/3
5. कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति। कं च खं च न विजानामि। यद्वाव कं तदेव खं, यदेव खं तदेव कमिति। छान्दो0 4/10/5
6. ऋ0 10/129/7
7. वासुदेवशरण अग्रवाल, उरु ज्योति, पृ0 28
8. यस्य वस्तुनो यो भावस्तदेव तस्य तत्त्वम्। न्या0कं0 पृ0 16
9. सदसती तत्त्वम्।
10. गीता, 2/16
11. अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः। मुण्डकोप0, 3/5
12. ऋ0 2/27/11
13. उरू ज्योतिश्चक्रथुरार्याय। ऋ0 1/117/21
14. रामावतार शर्मा, परमार्थ दर्शनम्, पृ0 235
15. यशदेव शल्य, चिद्–विमर्श, पृ0 1
16. माण्डूक्योप. 3/1/17
17. कठोप. 1/1/21–22
18. वही, 1/2/23
19. नैषा मतिस्तर्केणापनेया/वही, 1/2/9
20. वही, 1/2/12
21. स्वानुभूत्येक मानाय...। भर्तृहरि, नीतिशतक।
22. ब्र. सू. 2/1/11
23. आर्षं सिद्धदर्शनञ्च धर्मेभ्यः। वै. सू. 9/2/13
24. ऋषिर्दर्शनात्। निरुक्त, 2/11
25. मुण्डकोप0 1/1
26. गीता, 10/32
27. मनु0 6/74
28. मुण्डकोप0 1/5

● ● ●

वेदों में प्रतीकात्मकता

– प्रो0 महावीर अग्रवाल
निदेशक–श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान एवं
सम्पादक– गुरुकुल पत्रिका
गुरुकुल कांगड़ी वि0वि0, हरिद्वार

ब्राह्मण गन्थों एवं श्रौत सूत्रों में पशुयागों का विस्तृत आलेख किया गया है। वस्तुतः ये वर्णन प्रतीकात्मक है। किन्तु याज्ञिक प्रतीकात्मकता के वास्तविक अभिप्राय को न जानकर भ्रमित बुद्धि अनेकथा अर्थ का अनर्थ कर बैठती है जैसे कि आधुनिक चिन्तकों ने सोमरस को सुरा मानकर मादक द्रव्य कह दिया। इसी प्रकार वैदिक यज्ञों में मध्यकालीन उव्वट, सायण महीधर आदि भाष्यकारों ने पशु हिंसा का प्रतिपादन कर दिया। जबकि पशु यज्ञ प्रतीक रूप में सृष्टि में सतत चलने वाले आधिदैविक घटनाओं का प्रतिपादन करते प्रतीत होते हैं। पशुयज्ञ के विषय में सम्पूर्ण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विवेचन करना उपयुक्त रहेगा, जिससे यह स्पष्ट हो जाए कि पशुयज्ञों का मूल उत्स कहां है?

ऋग्वेदादि संहिताओं में पशुयज्ञ का का विधान नहीं है। चारों वेदों का गम्भीर अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें पशु–बलि का निर्देश नहीं है। यद्यपि कतिपय प्राचीन और अर्वाचीन वेद–व्याख्याकारों ने कुछ मन्त्रों की व्याख्याओं में पशु–बलि तथा मांस–भक्षण का उल्लेख किया है किन्तु तत्तत् स्थलों का प्रकरण तथा व्याकरण आदि दृष्टियों से विचार करने पर पशु–बलि की धारणा निर्मूल हो जाती है।

अर्वाचीन वेद व्याख्याकारों, विशेषतः पाश्चात्यों ने वेदों में पशुबलि का समर्थन मुख्यतः दो कारणों से किया है– प्रथम अपने पूर्ववत्ती वेद व्याख्याकारों का अन्धानुकरण तथा द्वितीय दुराग्रह। दुराग्रह इस प्रकार कि जिन प्रसंगों में किन्हीं द्वयर्थक पदों का भाष्य प्रकरणादि के अनुसार अहिंसा परक अर्थ अभीष्ट था वहां जानबूझकर हिंसापरक अर्थ किया। क्योंकि वे भारतीय जनमानस के आस्था केन्द्र वेदों का विकृत स्वरूप प्रदर्शित कर उनकी आस्था को हिलाना चाहते थे।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेद व्याख्याओं में हिंसा के समायोजन का द्वितीय कारण सायण आदि भाष्यकारों का अनुकरण रहा।

उव्वट, महीधर, सायण आदि के समय तक समस्त कल्प साहित्य विकसित हो चुका था। यज्ञों के समस्त विधि विधानों के साथ पशुबलि जैसे अवैदिक कृत्य भी प्रचलित हो चुके थे। इन वेद भाष्यकारों की दृष्टि में याज्ञिक विनियोग के अतिरिक्त वेदमन्त्रों का अन्य कोई उद्देश्य नहीं था। इन भाष्यकारों ने अपने युग की परम्पराओं का पालन करते हुए वेदमन्त्रों की

यज्ञपरक व्याख्या के लिए अच्छी खींचतान की है, यही नहीं कल्प साहित्य में कल्पित अवैदिक मान्यताओं को वेद से पुष्ट करने का भी प्रयत्न किया। इसके लिए शब्द साम्य का आधार बनाया गया। कल्प साहित्य तक पंहुचते–पंहुचते लभ् आदि धातुएं हिंसार्थ में प्रयुक्त होने लगी थीं। इन धातुओं के हिंसार्थ को आधार बनाकर कल्प साहित्य से बहुत पूर्व रचित वैदिक संहिताओं में प्रयुक्त लभ् आदि धातुओं के प्रसंग प्राप्त मौलिक अर्थ प्राप्ति आदि को अस्वीकार करने का प्रयास किया। यह बात भिन्न है कि वे ऐसा नहीं कर पाए। उनकी यह दुविधा उन्हीं के भाष्यों में अनेक बार प्रकट हुयी। वेदमन्त्रों में लभ् तथा ज्ञा आदि से निष्पन्न क्रियापदों का अर्थ उव्वट, महीधर, सायण आदि ने या तो किया ही नहीं और यदि किया है तो वह हिंसापरक नहीं है। पुनरपि इन धातुओं से निष्पन्न 'आलभते' 'संज्ञपयति' आदि क्रियापद जिन मन्त्रों में प्रयुक्त हैं उनका भाष्य करते समय कल्प साहित्य के उद्धरण देकर यज्ञीय पशु हिंसा का प्रतिपादन किया हैं। यह विरोधाभास ही है कि मूल मन्त्र में एक भी शब्द हिंसार्थ प्रतिपादक नहीं, फिर भी उसकी व्याख्या खींचतान कर हिंसापरक की गयी।

अङ् उपसर्ग पूर्वक लभ् धातु का प्रयोग ऋग्वेद संहिता में 'अन्वालेभिरे', 'आलब्धम्', 'आलेभनात्' आदि रूपों में कुछ स्थलों पर हुआ है। इन पदों का किसी भी व्याख्याकार ने हिंसार्थ नहीं किया। संज्ञपन आदि शब्दों का प्रयोग तो ऋग्वेद संहिता में हुआ ही नहीं।

शुक्ल यजुर्वेद की वाजरानेयि माध्यीन्दन संहिता में 'आङ्' पूर्वक लभ् धातु से निष्पन्न 'आंलभते' इस एक ही पद का प्रयोग विभिन्न स्थानों पर हुआ है। इसका अर्थ किसी भी भाष्यकार ने हिंसापरक नहीं किया। उव्वट् तथा महीधर ने 'आलभते' पद का अर्थ 'नियुनक्ति' किया है। स्वामी दयानन्द ने 'प्राप्नोति' अर्थ किया है। उव्वट ने एक स्थान पर 'आलभते' का अर्थ आलभ्यन्ते किया है। यह भाष्य की अपेक्षा पर्यायवाची अधिक है।

इस प्रकार अन्य संहिताओं में भी जहां कहीं आङ् उपसर्ग पूर्वक लभ् का प्रयोग है, उसका सायण ने कही भी स्पष्ट रूप से हिंसा अर्थ नहीं किया है, तथापि कहीं–कहीं पर वे विचलित या दुविधा ग्रस्त रहे हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौत सूत्रों में इसका प्रयोग प्राप्ति, स्पर्श तथा हिंसा अर्थ में हुआ है। दुर्भावना वश सन्दर्भ प्रसंग का विचार न करते हुए, कतिपय विद्वानों ने प्राप्ति एवं स्पर्श अर्थ ग्रहण न कर केवल हिंसा अर्थ को स्वीकार करते हुए यज्ञों में पशुहिंसा का प्रतिपादन कर दिया। अपने मन्तव्य को वेदानुकूल सिद्ध करने के लिए इन आचार्यों ने वेद–मन्त्रों में पठित आलभते, संज्ञपयति आदि का अर्थ हिंसा परक कर डाला।

वेदों में सहस्रों स्थानों पर हिंसा वाचक पदों का और शताधिक हिंसार्थक धातुओं का प्रयोग मिलता है। यदि यज्ञों में पशु हिंसा अभिप्रेत होती, तो यज्ञीय प्रसंगों में साक्षात् हिंसार्थक धातु का ही प्रयोग किया गया होता, किन्तु ऐसा नहीं किया गया है। जिन धातुओं के हिंसा से

भिन्न अनेक प्रमुख अर्थ हैं, उनका प्रयोग करने पर उत्पन्न होने वाले सन्देह का लाभ उठाकर हिंसा के समर्थकों ने पशु हिंसा सिद्ध करने का प्रयास किया है, जोकि सर्वथा वेदविरुद्ध है। यज्ञीय पशु हिंसा का प्रत्याख्यान करते हुए वेदमूर्ति महर्षि वेदव्यास कहते हैं :–

सुराः मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशरौदनम्
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु विद्यते।
लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः संप्रवर्तितम्
वेदवादानविज्ञाय सत्यमासामिवानृतम्।।
यूपं छित्वा पशूहत्वा कृत्वा रुधिर कर्दमम्।
यद्येवं गम्यते सवर्गं नरक केन गम्यते।। महा. शान्तिपर्व – 263.5.7

वस्तुतः वेदों में एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में अश्वमेध आदि का वर्णन प्रतीकात्मक शैली में है। इस प्रतीकात्मकता को समझ लेने पर ही वेद के सत्यार्थ को हृदयङ्गम किया जा सकता है। शुक्ल यजुर्वेद को सम्पूर्ण याज्ञिक कर्मकाण्ड का विधायक वेद स्वीकार किया गया है। इस वेद के प्रथम मन्त्र में ही पशुओं की रक्षा करने का उल्लेख है। इसी वेद में यज्ञ को 'अध्वर' विशेषण से विशेषित किया गया है। सभी प्राचीन और अर्वाचीन वेद भाष्यकारों ने अध्वर का अर्थ हिंसा रहित कर्म किया है। न केवल एक दो स्थानों पर अपितु शतशः सन्दर्भों में यज्ञ को अध्वर कहा गया है। वैदिक साहित्य में गौ को 'अधन्या' कहा गया है। सायण, स्कन्द, वेंकट, उव्वट, महीधर, दयानन्द, प्रभृति सभी वेद भाष्यकारों ने 'अघ्न्या' का अर्थ 'हन्तुमयोग्या' किया है, अर्थात् जिसका हनन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इस हिंसा रहित कर्म में न मारने योग्य गौ वध के प्रसंग स्पष्ट संकेत कर रहे हैं कि पशुयज्ञ के प्रसंग अज्ञानता वश अथवा जानबूझकर कल्पित कर लिए गयें हैं। यदि यज्ञ में पशु हिंसा अपेक्षित होती तो इसका अध्वर विशेषण कदापि न होता।

चरक संहिता में उल्लेख है कि– आदिकाल में यज्ञों में पशु हनन नहीं होता था। यज्ञ में पशुओं का स्पर्शमात्र किया जाता था। बाद में मनु के नाभाक, इक्ष्वाकु आदि पुत्रों ने यज्ञ में पशु वध किया।

वशिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार गौवध सर्वप्रथम 'पृषध्र' ने किया था। गौवध के पश्चात् 98 रोग उत्पन्न हो गये थे।

महाभारत के अनुसार यज्ञ में गौ का वध सर्वप्रथम 'नहुष' ने किया था। जिससे एक सौ एक रोगों की उत्पत्ति हुयी थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यज्ञों में पशुहिंसा जैसे कुकृत्य बहुत बाद में प्रारम्भ हुए।

अधिदैविक पदार्थों के अर्थ में पशु शब्द–

आधिदैविक अर्थ में सूर्य, जल, वायु, अग्नि आदि को पशु कहकर उनके आलभन का निर्देश वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। शुक्ल यजुर्वेद का निम्न मन्त्र इस विषय में द्रष्टव्य है–
"अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त। वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त। सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त।

इस मन्त्र में अग्नि, वायु और सूर्य को पशु बनाकर इनसे यज्ञ करने का उल्लेख है। क्या यह सम्भव है कि सूर्य, अग्नि, वायु आदि को मारकर उनकी आहुति दी जाए? यहां द्रव्य यज्ञ नहीं अपितु सृष्टि सिद्धान्तों के यज्ञ की चर्चा है। इसी प्रकार ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में पठित एक मन्त्र की व्याख्या करते समय यास्क ने इसी तत्व का उल्लेख किया है :–
यज्ञेन यज्ञमयजन्तः देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः। यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः अग्निनाऽग्निमयजन्त देवाः। अग्निः पुशरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त इति च ब्राह्मणम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त। यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः। द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम्।

अर्थात् देवों ने यज्ञ का यज्ञ में ही यजन किया। अग्नि से अग्नि का यजन किया। अग्नि पशु था। उसका अलभन किया।

ऐतरेय ब्राह्मण में भी इस मन्त्र का इसी प्रकार का व्याख्यान किया गया है।

निरुक्त के इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि अग्नि आदि आधिदैविक तत्त्व पशु नाम से भी अभिहित किये जाते हैं। इस विषय में ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित कतिपय सन्दर्भ निदर्शन मात्र के लिए प्रस्तुत कर रहा हूँ। जिससे कि ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित पशु का स्वरूप स्पष्ट हो जाए–

इन्द्रियों का शक्तिरूप रस वीर्य पशु है। प्राण पशु है। आदित्य पशु है। ब्राह्मणों की सभा पशु है। ब्रीहि और यव पशु है। औषधियां (वनस्पतियां) पशु है। गृह पशु है। दधि, मधु, घृत, जल, धान ये सब द्रव्य पशु के ही रूप हैं। पूषा पशु है। शक्वरी पशु है। सोम पशु है। स्वर साम पशु है। वृहती पशु है। मरुत् पशु है। वसु गण पशु है। यजमान पशु है। श्री पशु है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित पशु शब्द मात्र अश्व, हस्ति, उष्ट्र, गौ आदि का ही वाचक नहीं है, अंतः यज्ञ के प्रसंग में पशुओं का उल्लेख विभिन्न आधिदैविक अर्थों को प्रतिपादित करता है और जहां साक्षात् रूप से पशु से यज्ञ का विधान है, वहां पर पशुओं से प्राप्त दूध, दही, घृत आदि का ग्रहण करना चाहिए।

अश्वमेध यज्ञ पर विचार

यह यज्ञ भी इसी प्रकार प्रतीकात्मक वर्णनों से युक्त है। अश्वमेध शब्द में 'मेध' शब्द विचारणीय है। इसकी निष्पत्ति मेधृ धातु से हुयी है। जिसका अर्थ है हिंसा और संगमन। अश्व

की हिंसा और संगमन जिस यज्ञ में हो वह अश्वमेध यज्ञ कहलाएगा। इस यज्ञ में महिषी से अश्व का संगमन तथा अश्व का हिंसन दोनों कार्यों का वर्णन है। यह भी प्रतीकात्मकता से ही व्याख्यायित हो सकता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में अश्वमेध को उत्सभ यज्ञ कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि अश्वमेध की वास्तविक स्थिति का लोप हो चुका था। ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण के समय पुनः उस उत्सभ यज्ञ का स्वरूप निर्धारित किया गया। सृष्टि के विविध रहस्यों और भौतिक जगत् के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए प्रतीकों का आश्रय लिया गया। परवर्ती व्याख्याकारों ने उस प्रतीकात्मक वर्णन को मात्र भौतिक वर्णन के रूप में प्रस्तुत करके इस अति महनीय सृष्टि तत्त्व की व्याख्या प्रस्तुत करने वाले और राष्ट्र रक्षा के सिद्धान्तों के प्रतिपादक इस यज्ञ को नृशंस पशु–बलि और गर्हित अश्लीलता का प्रदर्शक बना दिया। ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर अश्वमेध को प्रजापति कहा गया है। अश्व को भी प्रजापति बताया है। अश्व की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्रजापति की आंख सूजकर फैल गयी और दूरं गिर गई। उसी आंख से अश्व बना। मैत्रायणी संहिता में उल्लेख है कि प्रजापति ने अश्व का रूप धारण किया। इस प्रकार अश्वमेध और उसका अश्व ये दोनों ही प्रजापति के प्रतीक हैं। इस अश्वमेध यज्ञ द्वारा ही प्रजापति की विच्छिन्न आंख को पुनः उसमें स्थापित किया गया था।

अश्व का प्रजापति रूप शतपथ ब्राह्मण के एक सन्दर्भ में सुस्पष्ट हुआ है। वहां कहा गया है कि मेध्य अश्व का शिर उषाकाल है, सूर्य इसकी आंखे हैं, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि खुला हुआ मुख है, संवत्सर आत्मा है, धुलोक पीठ है, अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी पैर रखने का स्थान है, दिशाएं पार्श्व भाग है। आग्नेय आदि अवान्तर दिशाएं पार्श्व भाग की अस्थियां हैं। ऋतुएं अङ्ग हैं मास और अर्धमास पर्व हैं।

आचार्य सायण ने भी मेध्य अश्व को प्रजापति मान कर ही इस सन्दर्भ की व्याख्या की है।

इसी प्रकार अश्व को अग्नि, चन्द्रमा, आदित्य, वरुण, बताकर इसका उत्पत्ति स्थान समुद्र को बताया है। एक स्थान पर कहा गया है कि मनुष्य स्वर्ग लोक को इतनी शीघ्रता से नहीं जान पाता, जितनी शीघ्रता से अश्व जान लेता है। अन्यत्र कहा है कि अश्व का रेतस् ऊपर जाकर स्वर्ण बन गया।

अश्वमेध को राष्ट्र और श्री का स्वरूप भी माना गया है–राष्ट्रं वा अश्वमेधः, श्री वैराष्ट्रम् अश्वमेधः।

इस प्रकार आधिभौतिक अर्थ में अश्वमेध राष्ट्र है और राजा उसका अश्व है। राजा अश्व के समान बलशाली होना चाहिए। क्योंकि दुर्बल राजा इस राष्ट्र रूपी अश्वमेध का संचालन प्रभावशाली ढंग से नहीं कर सकता, क्योंकि उसके बलशाली शत्रुओं द्वारा पकड़ लिये जाने से उसका यज्ञ भंग हो जाएगा और राष्ट्र पराधीन हो जाएगा। इसलिए दुर्बल

व्यक्ति द्वारा इस यज्ञ के अनुष्ठान का निषेध किया गया है। यह अश्वमेध यज्ञ राष्ट्र की उन्नति की कामना से किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में महिषी के अश्व संगमन के समय पठित मन्त्रों का व्याख्यान स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करता है कि यह प्रक्रिया राष्ट्ररूपी अश्व से महिषीरूपी श्रीसमृद्धि को संयुक्त करने के लिए की जा रही है। इस प्रसंग में समृद्धि की कामना करने वाले मंत्र और अनुष्ठानों का उल्लेख है।

इस प्रकार आधिभौतिक अर्थ के अनुसार राष्ट्र ही अश्वमेध है। राष्ट्र की रक्षा, समृद्धि और उन्नति के लिए किये जाने वाले कार्य अश्वमेध के प्रतीकात्मक अर्थ का प्रतिपादन करते हैं।

आधिदैविक अर्थ में अश्वमेध और अश्व को सूर्य माना गया है।

सूर्य को समुद्र के पास से देखने पर प्रतीत होता है कि यह समुद्र से उदित हो रहा है और अस्त के समय भी ऐसा ही प्रतीत होता है कि समुद्र में छिप रहा है। संभवतः इसी कारण इसका उत्पत्ति स्थल समुद्र को माना गया है। प्रलय के समय अथवा सृष्टि निर्माण के समय सर्वत्र जल होने की चर्चा की गयी है, उस समय सूर्य का निर्माण हुआ यह भी समुद्र से उत्पत्ति का आधार हो सकता है।

यदि समुद्र शब्द के प्रतीकार्थ को भी न लें तो भी अश्व का अर्थ सूर्य ही हो सकता है, भौतिक अश्व नहीं, क्योंकि वैदिक संहिताओं में समुद्र शब्द अन्तरिक्ष का वाचक है। यास्क ने अन्तरिक्ष नामों मे समुद्र का उल्लेख किया है।

इस प्रकार यह निश्चित हो जाने पर कि अश्व सूर्य का वाचक है अब प्रसंग प्राप्त अश्वमेध का स्वरूप निम्न प्रकार उभरकर आता है।

राजा :– अश्वमेध यज्ञ जो लौकिक रूप में किसी राजा द्वारा सम्पन्न होता हे उसमें सार्वभौम राजा पृथक् होता है और अश्व पृथक्। यहां पर अश्व राजा के तेज का प्रतीक है। अतः दोनों का परस्पर सम्बन्ध है। आधिदैविक अर्थ के अनुसार राजा का अर्थ सूर्य है। यह सूर्य ही अश्व है। अश्वमेध यज्ञ से सम्बन्धित ऋग्वेद की ऋचाओं में अश्व शब्द से सूर्य की रश्मियों का भी ग्रहण हो जाता है। तत् साहचर्य द्वारा अथवा तत् प्रसूत होने से सूर्य रश्मि को अश्व कहा जाता है।

अश्व :– अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में अश्व के जो लक्षण दिये गये हैं वे भी आधिदैविक अर्थ को प्रकट करते हुए सूर्य के ही वाचक हैं। सूर्य उदित होने से पहले रात्रि का अंधकार चारों ओर व्याप्त है। पूर्व की ओर शकट के आकार में स्थित आकाश में उषा की किरण दिखायी देती है मानों अन्धकार अश्व है और उसके कृष्ण ललाट पर यह ऊषा रूपी श्वेत चिह्न है। सूर्य उदित होने के बाद जो प्रकाश होता है वह अश्व का पीछे का आधा श्वेत भाग है, इस प्रकार उषा से युक्त रात्रि आगे–आगे और सूर्य का प्रकाश पीछे–पीछे अनुगमन करता है।

अश्व की लगाम :–अश्वों की रशना (लगाम) की लम्बाई 12 या 13 अरत्नि बताई गई है।

(एक अरत्नि में लगभग 24 अंगुल होते हैं) सूर्य की एक परिक्रमा में 12 मास होते हैं और तीसरे वर्ष एक मास अधिक होकर 13 मास बन जाते हैं। इसी 12 या 13 मास परिमाण वाली रशना से सूर्य बंधा होता है। अश्व की रसना को घृत से चिकना करते हैं। घृत तेजस्वी पदार्थ का उपलक्षण है। (घृ क्षरण दीघ्प्त्योः) सूर्य की रशना भी प्रकाश से दीप्यमान है।

राजा की चार पत्नियां :– अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में उल्लेख है कि राजा की चार पत्नियां महिषी, वावाता, परिवृत्ती और पालागली अपनी–अपनी सौ–सौ दासियों को लेकर यजमान राजा के पास आती हैं और सांयकाल राजा वावाता के ऊरु के मध्य शिर रखकर ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ रात्रि को सोता है।

इनका आधिदैविक अर्थ निम्नलिखित है– पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ये चार दिशायें राजा की चार पत्नियां हैं। पूर्व की दिशा महिषी है इसी के साथ सूर्य राजा का उदय काल में अभिषेक प्रसव होता है, पश्चिम दिशा वावाता है, सूर्य इसी दिशा में छिपता है और विश्राम करता है, इसी को आलंकारिक रूप प्रदान करते हुए कहा है कि राजा वावाता के उरु के मध्य में शिर रखकर सोता है। सूर्य पश्चिम दिशा में अस्त हो रहा है, परन्तु पश्चिम दिशा में जो लोग रहते हैं उनके लिए वह उदय हो रहा है, जो हमारी पश्चिम दिशा है वही उस देश में रहने वालों के लिए पूर्व दिशा है। भाव यह है कि पश्चिम दिशा–वावाता के साथ सूर्य के अस्त होने पर भी उसके साथ सम्बन्ध नहीं हो पाता, क्योंकि वह तुरन्त उदित हो रहा है। यही सूर्य राजा का ब्रह्मचर्य है। इसी प्रकार परिवृत्ती और पालागली पत्नियां उत्तर दिशा और दक्षिण दिशा हैं, जिनके साथ सूर्य राजा का संयोग उत्तरायण और दक्षिणायन काल में ही होता है, सर्वदा नहीं होता।

इस प्रकार चार पत्नियों का सम्बन्ध आधिदैविक ही है न कि भौतक।

अश्व का भ्रमण :– यज्ञ का अश्व एक वर्ष तक घूमता रहता है। यह सूर्य की वार्षिक गति का द्योतक है।

अश्व की रक्षक सेना :– अश्वमेध यज्ञ के अश्व की रक्षा के लिए विविध आयुधों से युक्त सौ राजपुत्र, सौ क्षत्रिय पुत्र, सौ सूतपुत्र, सौ क्षत्ताओं के पुत्र नियुक्त करने का उल्लेख है ये सैनिकों का विधान भी सूर्य की किरणों का प्रतीकात्मक विवेचन है। सूर्य की किरणें ही सैनिक रूप में वर्णित हैं। ऋग्वेद में सूर्य की हजारों किरणों का वर्णन है। इन हजार प्रकार की किरणों के तीन भेद पुराणों में बताये गये हैं।

● ● ●

वेदों के आलोक में राजनीति

- डॉ0 किरण टण्डन
रीडर, संस्कृत विभाग
कुमायूँ विश्वविद्यालय नैनीताल (उ0प्र0)

वेद भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। हमारी भारतीय संस्कृति की मान्यता के अनुसार वेद अपौरूषेय हैं। इनकी संख्या चार है– ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद। ये हमारी सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा सांस्कृतिक विचारधाराओं के साथ ही साथ राजनैतिक विचारधाराओं के भी आदिम स्रोत हैं। इनमें सभी प्रकार की शासकीय स्थितियों, राजनीति के सभी तत्त्वों–जैसे राजा, अमात्य, विदेशनीति, युद्धनीति, दण्डनीति आदि– की विस्तृत तथा उपयोगी जानकारी मिलती है, जो राजनीतिज्ञों तथा शासकों के लिए प्रेरणा का सार्वकालिक और सार्वदैशिक स्रोत है। अब ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के राजनैतिक विचारों का सार प्रस्तुत है–

ऋग्वेद

राजा :– प्रजापालन राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है (1/12/2; 3/81/1; 6/1/6–8)। राजा को चाहिए कि वह अपनी प्रजा के लिए अन्न और धन का समुचित प्रबन्ध करे (1/12/2; 1/54/11); जल और प्रकाश की व्यवस्था करे (1/55/6; 7/18/9); निवास स्थान उपलब्ध कराये (6/44/15); शिक्षा का प्रबन्ध करे (7/7/1); उसके हित को समझे (7/7/4); प्रजाकल्याण के लिए राजपुरुषों के साथ में विचार विमर्श करे (7/39/2); उसकी रक्षा कवच के समान करे; उसका पालन–पोषण करे; उसे शक्तिसम्पन्न करे (1/17/1–2,7/31/6); प्रजापीडक चोर–डाकुओं को नष्ट करे (1/63/4; 4/4/3–4); प्रजा को समृद्ध बनाये; उसे अपराध से बचाये (1/27/3–6; 4/17/13); उसे सुख पहुँचाने के लिए विविध योजनाएँ कार्यान्वित करे (4/30/6; 6/45/3); शत्रु का विनाश करे; धनसंग्रह करे; दुष्टों का दमन करे (4/30/6–7); नदियों को नियन्त्रित करके बाढ़ से उसकी रक्षा करे (4/30/14), उसकी सुरक्षा के लिए उसकी देखभाल करे (6/1/8), उसके हित के लिए हितैषी व्यक्तियों को ही उच्चपद पर नियुक्त करे (7/6/5); उसे रोगमुक्त रखे (1/99/2); उसे सड़े अन्न देकर अस्वस्थ करने वाले दुकानदारों को दण्ड दे (7/19/2), नगर की व्यवस्था स्त्रियों की रक्षा के अनुरुप करें (7/55/5,8), और यज्ञ के विघ्नों को भी दूर करे (9/7/5)।

राजा को अपने मन्त्री के विचारों से सामञ्जस्य रखना चाहिए (1/17/3–4); उसे यशः प्राप्ति के लिए यज्ञ करना चाहिए (1/126/1; 1/162/7–13; 5/27/5); उसे श्रेष्ठ पुरुषों की सहायता करनी चाहिए; ज्ञानियों को सताने वाले दुष्टों को दण्डित करना चाहिए

(1/130/8); अपने पुरोहित का सत्कार करना चाहिए; राज्य संचालन में पुरोहितों की सहायता लेनी चाहिए तथा उनकी रक्षा करनी चाहिए (4/50/7–9)।

राजा को कपटी व्यक्ति के साथ कपट का आचरण करके उसे नष्ट कर देना चाहिए (1/11/7; 1/51/5; 1/80/7)। उसे शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक बलों से युक्त होना चाहिए (1/51/7; 3/27/9)। उसे दुष्ट और साधु पुरुष की सही परख होनी चाहिए (1/51/8)। चोरों और शत्रुओं को दण्ड देकर राजप्रबन्ध द्वारा उनका सुधार करना चाहिए (5/79/9; 6/22/10)।

राजा को शत्रुओं से सावधान रहना चाहिए; उनके अधिकार में गई हुई भूमि को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए; शस्त्रास्त्रों के प्रयोग से शत्रुओं का विनाश करना चाहिए; दुष्टों और घमण्डियों का दमन करना चाहिए (1/61/9–13; 4/4/4; 3/34/9–10; 4/5/4–5); तथा राज्य से द्वेष करने वालों, दुष्ट शत्रुओं, लुटेरों, डाकुओं, शत्रुओं से मैत्री करने वालों और समाज का शोषण करने वालों का विनाश कर देना चाहिए (1/51/6; 1/90/3; 7/18/14–16; 7/19/1–2; 7/30/1–2)।

राजा को युद्ध में मिले हुए धन से प्रजा को सन्तुष्ट करना चाहिए; प्रजा की सहायता से राज्यकोष में वृद्धि करनी चाहिए; और प्रजा से 'कर' ग्रहण करने की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए (4/17/11–13; 7/6/5; 10/173/6)।

राजा को सुरक्षा के साधनों की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए; राज्य में सर्वत्र गुप्तचरों की नियुक्ति करनी चाहिए; और संगठनशक्ति से देश की रक्षा करनी चाहिए (1/23/6; 1/80/9; 4/4/3)।

युद्ध करने के लिए राजा के पास अच्छे घोड़े, रथ, उत्तम शस्त्रास्त्र के साथ ही साथ धैर्य तथा वीरता भी होनी चाहिए। उसे सदैव शस्त्रास्त्रों से सज्जित रहना चाहिए; घुड़सवारी सीखनी चाहिए; रथ के लिए योग्य सारथि की नियुक्ति करनी चाहिए; उसे युद्ध में सबसे आगे रहना चाहिए; सेना को प्रोत्साहित करके शत्रुओं का वध करवाना चाहिए (1/52/1; 1/53/6–7; 1/55/1, 7,8; 1/63/3–5; 1/102/9–10; 5/61/10; 7/18/13); राज्यविस्तार के लिए बाह्य और आभ्यान्तर शत्रुओं का विनाश करना चाहिए; पराक्रमपूर्ण कार्यों को करना चाहिए; समाजवाद को प्रश्रय देना चाहिए (1/103/2–6); वीर प्रजाजनों को युद्ध की शिक्षा देनी चाहिए (1/109/7–8); युद्ध में दृढ़ शत्रुओं को भी विचलित करना चाहिए; सहायकों की रक्षा करनी चाहिए; और निर्भय रहना चाहिए (1/127/3–5; 3/54/23)।

राजा को अपने सेनापति को प्रसन्न रखना चाहिए (5/37/4), वीरों को संगठित करना चाहिए, उन्हें प्रसन्न रखना चाहिए, उनका पालन–पोषण ठीक से करना चाहिए और

उनका निरीक्षण करना चाहिए (6/2/17, 6/11/1–2, 7/8/5, 7/56/4–5,9), राष्ट्र की सुरक्षा एवं वीरों के निवास के लिए किलों का निर्माण करना चाहिए (7/20/8)। इस प्रकार शास्त्रस्त्र तथा सेना के युक्त होकर शत्रु के दुर्गों, कपटव्यूहों, नगरों तथा प्राकारों को नष्ट करके उसके धन तथा अन्न पर अधिकार जमा लेना चाहिए, शत्रु की योजनाओं को विफल करने का प्रयत्न करना चाहिए, अपने सैनिकों की शक्ति को शत्रुओं से गुप्त रखना चाहिए और सहयोगियों की सहायता से शत्रुओं को पराजित करना चाहिए (6/45/9,12–13, 7/6/2, 7/18/8, 14–16, 7/19/3–5, 7/56/2, 10/174/2–3)।

ऋग्वेद के अनुसार राजा में सामर्थ्य, क्षिप्रकारिता, उत्साह, शासन करने की योग्यता, विद्वता, संस्कृतिप्रियता, दानशीलता, दूरदर्शिता, संकट का सामना करने के लिए तत्परता, स्थिरमति, दृढ़विचारशक्ति, उत्तम कार्यप्रणाली आदि गुण होने चाहिए। श्रेष्ठ राजा वही है, जो अपने कारीगरों की रक्षा कर सके; कष्ट सहन कर सके; नेतृत्व कर सके; सज्जनों की रक्षा कर सके; स्वावलम्बी हो; विश्वहितैषी हो; और कुशलतापूर्वक राज्यसंचालन करे (1/61/1–3; 1/63/3–8; 3/53/9; 3/29/6; 3/56/21; 3/54/17; 4/4/4; 5/58/4; 7/6/2, 5; 10/173/1,2,4)। ऋग्वेद के अनुसार उत्तम गुणों से युक्त स्त्री भी रानी बनकर प्रशासन कर सकती है (7/75/6)।

प्रजा और प्रजातन्त्र :–ऋग्वेद में प्रजा के कर्त्तव्य और प्रजातन्त्र का भी स्पष्ट संकेत मिलता है। प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह उत्तम राजा और मन्त्री के अनुकूल आचरण करे (1/1/17)। प्रजायें स्वयं राष्ट्र में शासन करें; और समाज का शासन, समाज के द्वारा समाज की उन्नति के लिए हो (1/60/5)। यदि राजा और राजपरिवार प्रजा को कष्ट दें तो उनको पदच्युत कर देना चाहिए (1/122/15)। राजा को शासन में सहायता देने के लिए राज्य के नागरिकों को तत्पर रहना चाहिए (7/20/2)।

मन्त्री :–मन्त्री का कार्य है–राष्ट्र के अन्दर प्रजा की उत्तम व्यवस्था करना (1/8/6), राजा के विचारों से साम्य रखना (1/17/3–4) एवं अपने कार्यों से प्रजाजनों का प्रिय हो जाना (1/1/17)।

पुरोहित :–पुरोहित का कार्य है–युद्ध में जाने वाले राजा के लिए स्वस्त्ययन करके उसके हाथों में शस्त्र देना (1/63/2) और राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए क्षात्रशक्ति का संवर्धन करना (1/80/1)। पुरोहित राजा एवं राष्ट्र के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्ति है। क्योंकि इसकी सहायता से ही राजा प्रजा में सम्मान प्राप्त करता है; निश्चिन्तता का अनुभव करता है; राज्य धन–धान्य से युक्त हो जाता है; और भूमि उपजाऊ हो जाती है (4/50/7–9; 7/33/6)।

दूत :–दूत देश का सम्मानित प्रतिनिधि होता है (1/161/4)। इसमें तेजस्विता, वाग्विदग्धता, सत्यप्रियता, संगठनशक्ति, दानशीलता, दक्षता, अहिंसाप्रियता, तपस्वी मित्रों

की संगति, शत्रुओं को सन्तप्त करने की योग्यता, प्रगतिशीलता, वीरता आदि गुण होने चाहिए (1/12/1,4,10; 7/2/3; 7/3/1; 7/11/2)। यह अवध्य तथा स्वच्छन्द रीति से भ्रमण करनेवाला होना चाहिए (4/9/2)।

गुप्तचर :– राज्यव्यवस्था के लिए गुप्तचरों का होना आवश्यक है (1/23/2–3)। इनका कर्त्तव्य है कि प्रजाजनों, राजकर्मचारियों तथा राज्य में आने वाले बाह्य व्यक्तियों की चेष्टाओं को जानने के लिए राष्ट्र में भ्रमण करें (1/51/1)।

सेनापति :– सेनापति का मुख्य कार्य है– शत्रुओं से युद्ध करके देश का संरक्षण करना (1/8/6)। इसको देशरक्षक वीरों के लिए अन्न की उत्तम व्यवस्था करनी चाहिए (1/9/2)। इसको शत्रु–दुर्गभेदक, तरूण, ज्ञानी, अपरिमित बलशाली तथा उत्तम सैन्य–संचालक होना चाहिए (1/11/5; 6/47/31)।

सैनिकों के कर्त्तव्य एवं युद्ध :– राष्ट्र के सैनिकों में उत्साह, निर्भीकता, प्रभावशालिता आदि गुण होने चाहिए। सैनिकों को ज्ञानियों की सहायता करनी चाहिए (1/19/7–9; 1/64/2)। इनके पास शत्रुओं का सामना करने के लिए शस्त्रसज्जित, योग्य सारथि से संचालित, वेगवान् अश्वों से युक्त रथ, वेगवान् अश्व, वज्र, धनुष, तरकश और बाणादि उत्तम शस्त्रास्त्र पर्याप्त मात्रा में होने चाहिए। इनके शस्त्रों में शत्रुओं के शस्त्रों से रक्षा करने की सामर्थ्य होनी चाहिएं। सैनिकों को दृढ़ता तथा धैर्यपूर्वक शस्त्र धारण करके शत्रुओं का सामना करना चाहिए (1/5/4–6; 1/6/5; 1/8/2–3; 1/37/2,4; 1/33/3–4, 14; 1/38/12; 1/64/8–10; 1/166/9; 5/54/2,3, 6/75/1–8); शत्रु के बड़े–बड़े वीरों को नष्ट कर देना चाहिए; अथवा अपने अधीन कर लेना चाहिए; शत्रुओं को अपनी असावधानी से लाभ उठाने का अवसर नहीं देना चाहिए; उन्हें युद्ध में खदेड़ देना चाहिए; उनके गुप्तचरों को पकड़ लेना चाहिए; उनके मित्रों से दूर रहना चाहिए; अपने देश के प्रदेशों पर बलपूर्वक अधिकार जमाने वाले शत्रुओं के किलों को तोड़ देना चाहिए; उन्हें अपनी बुद्धि का अनुमान नहीं देना चाहिए; तथा शत्रुओं के देश में अशिक्षा का और अपने देश में शिक्षा का वातावरण उत्पन्न करना चाहिए (1/6/5; 1/33/1–15)।

युद्ध करने वाले सैनिक एक निश्चित उद्देश्य को लेकर चलें; अपने शस्त्रास्त्र को शत्रुसैनिकों से अधिक बलशाली बना दें; शत्रुओं का पूर्ण विनाश करें; प्रजा को निर्भीक बनायें; बालकों का संरक्षण करें (1/39/1–5, 7–8); क्षात्रशक्ति सम्पन्न होकर मातृभूमि के लिए बलिदान करने को सदैव तत्पर रहें; बल से सब कार्यों को करने का सामर्थ्य रखें; मानवों का हित करें; प्रजाओं को संगठित करें (1/40/1–3; 1/64/2; 2/30/8–9); ज्ञान–विज्ञान की सहायता से राष्ट्र की रक्षा करें (1/41/1–3; 1/42/5); राजा की सहायता करें; पापरहित, तेजस्वी और अटल हों; देशद्रोहियों को नष्ट करें; राष्ट्र को धान्य से भरकर राष्ट्र को घेरने

वाले शत्रुओं का सामना करें, प्रजापीड़क शत्रुओं को मार दें, शत्रुओं के द्वारा अवरूद्ध नदियों को खोल दें (1/33/1; 1/80/1–5; 7/18/11–12); धर्मयुद्ध करें; आत्मनियन्त्रण करें; शत्रुदल पर भीषण आक्रमण करें; सज्जनों को संरक्षण दें; और प्रजाओं को विनाश से बचायें (1/166/1–6)।

सैनिक साथ रहने वाले, आनन्दयुक्त, उत्तमगतिमान् शत्रुओं पर उत्तम रीति से आक्रमण करने वाले तथा प्रजा को शक्तिसम्पन्न बनाने वाले होने चाहिए (2/11/14)। सैनिकों को सेनापति की सहायता करनी चाहिए (7/18/11,19)।

शत्रुओं को सावधान करके मारना चाहिए (2/30/9); सूर्यास्त के बाद युद्ध बन्द कर देना चाहिए (2/38/3,6); अपनी शक्ति बढ़ाते हुए सज्जनविरोधियों को शस्त्र के प्रहार से नष्ट कर देना चाहिए; पक्षभेद करके अलग से गुटबाजी करने वालों और यज्ञादि कार्यो में विघ्न डालकर प्रजा में फूट डालने वालों को भी नष्ट कर देना चाहिए (7/18/17–19); युद्ध से पलायन नहीं करना चाहिए; शत्रुओं को तितर–बितर कर देना चाहिए (7/20/3); और दुन्दुभियों की ध्वनि से शत्रुओं को भयभीत करना चाहिए (6/47/30)।

वीर सैनिकों में संघशक्ति और उत्तम चरित्र होना चाहिए। ये शस्त्रबल और बुद्धिबल से शत्रुओं का विनाश तो करें किन्तु अपने राष्ट्रवासियों का विनाश न करें; प्रजाजनों से प्रेमव्यवहार करें; सत्यनिष्ठा और शक्ति से सबको प्रभावित करें (7/56/6–13)। राष्ट्र के नागरिकों का भी कर्त्तव्य है कि घर, समाज और राष्ट्ररक्षा में समर्थ वीरपुरुषों को रक्षा के कार्य में नियुक्त करवायें (7/1/1–2) तथा सेना के लिए ऐसा धन एकत्रित करें जो विजय और शक्ति का संवर्धन करने वाला हो (1/8/4)।

यजुर्वेद

राजा :– राजा का कर्त्तव्य है कि वह दुष्कर्माओं का दमन करें; उनका विनाश करें; पिता के समान प्रजा का पालन करें; न्यायप्रिय सज्जनों की रक्षा करे (6/1,23,37,12/17, 30/5,9), प्रजा की स्वीकृति से ही राज्य करे; राज्य की उन्नति करे; न्यायपूर्ण कार्यों में प्रजा का सहयोग प्राप्त करें (6/2,12/6), योग्य न्यायकर्त्ता बनने के लिए सत्य और धर्म से प्रीति रखे (6/4,7); और स्वयं न्यायाधीश का पद प्राप्त करके न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करे (8/3,7,9,12, 9/21,27/35)।

प्रजा ऐसे व्यक्ति को राजा चुने जो विद्वानों का प्रिय, प्रजारञ्जक, राज्य के उत्कर्ष से सबको उत्साहित करने वाला सभा, सेना और प्रजाजनों की रक्षा करने वाला, पुण्यशाली, प्रशंसनीय, स्वरूपवान्, विद्यावान, विनयी, शूरवीर, तेजस्वी, निष्पक्ष, मित्र, स्वस्थ, बलशाली, पराक्रमी, धीर, जितेन्द्रिय, शास्त्रों के प्रति सश्रद्ध, राज्यरक्षा में समर्थ, दुष्टों से सज्जनों की रक्षा करने वाला, सत्पुरुषों से शिक्षा ग्रहण करने वाला, दुर्व्यसनों से दूर रहने वाला,

व्यवहारकुशल, दूतों की सहायता से मनुष्यों के मनोभावों को जानने वाला, न्यायप्रिय, प्रसन्न और पुष्ट सेना वाला, दूरस्थ और समीपस्थ प्रजाजनों पर नजर रखने वाला, युद्धविद्या में कुशल, धन की वृद्धि करने वाला, हाथी घोड़ो से युक्त, कल्याणकारी आचरण करने वाला, मन्त्रियों के साथ विचार–विमर्श करने वाला, पुरुषार्थचतुष्टय का सेवन करने वाला, प्रमादरहित, अज्ञान को दूर करने वाला, सुख–दुःख को सहने में समर्थ, वीरपुरुषों की सेना से प्रीति रखने वाला, गुणी व्यक्ति का सत्कार करने वाला, शिल्पियों का संग्रह करने वाला, प्रजाओं को अधर्म से रोकने वाला, दुष्टों का संग छोड़ देने वाला और श्रेष्ठों का संग ग्रहण करने वाला हो (6/32,33,7/29,45, 8/50, 9/25, 10/17, 33, 12/13, 14, 23, 16/6, 13, 50, 20/10, 47–49, 52, 83,27/4–7, 37, 30/3–4, 33/6, 15, 27, 62,66)।

राजा का कर्त्तव्य है कि वह श्रेष्ठ वीरों को सेना में नियुक्त करे (7/29); अपराध के अनुसार दण्ड दे; निरपराध को दण्ड न दे (8/23, 12/32–33); अपनी उन्नति के लिए दूसरों को कष्ट पहुँचाने वाले व्यक्तियों को दण्डित करें (8/44); सैनिकों को युद्ध के लिए उत्साहित करके शत्रुओं को निर्मूल करें (8/53); अपने सेवकों को नीरोग रखने की चेष्टा करे; एतदर्थ राज्य में औषधियों का समुचित प्रबन्ध करे (9/3, 12/99); अपने राज्य के क्षत्रिय तथा वैश्यों की उन्नति करे (10/11–12); अपनी उन्नति के लिए धर्मसहित प्रजा की इच्छा पूरी करे (12/116), सेना और सेनापति का अन्नादि पदार्थों से सत्कार करें (16,8), राजनीति के कार्य, स्थान और पदार्थों के विषय में पूरी जानकारी रखें; दुष्ट शत्रुओं को दुःख तथा प्रजा को सुख पहुँचाने के लिए तीक्ष्ण शस्त्रों का संचय करें (12/19, 16/13); राज्य को विघ्नों से रहित करें; प्रजा को अपने अंगो के समान ही महत्त्वपूर्ण समझे (20/8, 27/4), और आवश्यकता होने पर उसे कर मुक्त भी कर दे (27/35)।

राजा और प्रजा :– प्रजाजन परस्पर सम्मति से किसी सभापति को राजा बनायें और राज्यपालन के लिए उसे 'कर' दें। राजा दुष्टों को वश में करके प्रजा की रक्षा करें (6/6, 24, 7/35),। प्रजाजन अन्न–जल, शस्त्र–अस्त्र आदि से अपना बल बढ़ाकर, शत्रुओं को मारकर युद्धविजयी हों। राजा और प्रजाजन दोनों ही युद्ध की तैयारी और शस्त्राभ्यास करें (6/8, 16/12),। राजा प्रजा का हितसाधन करें और प्रजा भी राजा की आज्ञा माने (7/30)। सुखप्राप्ति के लिए राजा और प्रजा पारस्परिक विरोध को छोड़ दें (9/10),। प्रजाजन केवल राजा के ही अधीन न रहें; वे सभा और सभापतियों से भी राज्यव्यवस्था करवायें (6/25, 16/20),। राजा और प्रजाजन अपने कार्य की सिद्धि के लिए योद्धाओं की रक्षा करें; उन्हें सुविधा सम्पन्न घर दें; खाने–पीने की समुचित व्यवस्था करें; और उनके लिए उत्तम पुरुषों की मैत्री और मनोरंजन के साधन उपलब्ध करें (16/35),।

राजपुरुषों के सामान्य गुण :– राजपुरुष अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखें;

व्यभिचारिता से दूर रहें (8/39), नित्य अपना पराक्रम बढ़ाकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें (12/112), शारीरिक बल से युक्त हों; युद्ध की शिक्षा ग्रहण करें; अस्त्र–शस्त्रों का संग्रह करें; सज्जनों को कष्ट न दें; अपितु उनकी सुरक्षा करें; एवं इस कार्य के लिए सेना को प्रेरित करें (16/1,3, 18/37), अपनी प्रजा के बालक, कुमार, गाय, घोड़े और उपकारी व्यक्तियों की हत्या न करें (16/16), पुरुषार्थी को उत्साहित करें; प्राणियों पर दया करें; सेना को शिक्षित करें; चोरों को दण्ड दें; सेवकों की रक्षा करें; वनों को न काटें; कपटी व्यवहार करने वाले चोर–डाकुओं को बुरे कार्यों से रोकें; धर्मात्माओं का पालन करें (16/20–21), अपने सेवकों की शिक्षा, सम्मान और आहार की समुचित व्यवस्था करें (16/26, 34), बाहुबल से राज्य प्राप्त करें; शूरवीर व्यक्तियों को सेना में भर्ती करें; शत्रु को पछाड़ दें (12/112, 16/53), रक्षा और अभयधन से सबको सुख पहुँचायें (21/11), राजा की आज्ञा से धर्मात्माओं को प्रोत्साहित करें; हँसी उड़ाने वाले और भय प्रदान करने वालों को दूर करें; शिल्पविद्या की उन्नति करके शिल्पियों से विशिष्ट रचनाएँ करवायें; शिक्षित हाथी–घोड़े रखने वालों से सम्बन्ध बनायें; विद्वानों की संगति प्राप्त करें (30/6–7,11–12, 22, 33/68), प्रजा से प्राप्त 'कर' को उसी की सुरक्षा और दुष्टों के दमन में लगायें (9/17), और पुरुषार्थ का सेवन करें (20/72, 83), ।

न्यायाधीश :– यजुर्वेद में राजा को स्वयं ही न्यायाधीश का पद ग्रहण करने के बाद भी (7/17) बताया गया है कि वही व्यक्ति न्यायाधीश बन सकता है और राज्य तथा प्रजा की रक्षा कर सकता है, जो धार्मिक हो; अपराधियों को दण्ड दे; तथा निरपराधों की रक्षा करें (9/25, 12/63, 20/2)।

मन्त्री :– यजुर्वेद के अनुसार मन्त्री के कर्त्तव्य हैं– कर ग्रहण करना (9/25), राजा और राजकीय कर्मचारियों को व्यसनों से दूर रखना, उन्हें विनयसम्पन्न बनाकर ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए प्रोत्साहित करना (27/8, 33/62) तथा सेनापति को सेना के बल से श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों को प्रताड़ित करने की सलाह देना (16/11), ।

वैद्य :– राजा अपने सभासदों की सहायता से व्यक्ति को राज्य और सेना का वैद्य बनाये जो सभी रोगों और औषधियों का अच्छा जानकार हो; इसके अतिरिक्त धर्मनीति, औषधिदान और हाथ की कुशलता द्वारा रोगों से सेना और प्रजा की रक्षा कर सकता हो (16/11)।

सेनापति :– सेनापति के पद पर ऐसे व्यक्ति को नियुक्त करना चाहिए जो शत्रुओं को नियन्त्रित करने में कुशल हो; सेना के वीरपुरुषों की रक्षा कर सके; अस्त्र–शस्त्र के प्रयोग में प्रवीण हो; विद्वान् हो; निष्पक्ष हो; और बलशाली हो (7/22, 9/25, 12/34)। सेनापति अपनी सेना लेकर पहले ही दुष्ट शत्रुओं को घेरकर उन्हें छिन्न–भिन्न कर दे और युद्ध में

विजय प्राप्त कर ले (5/37),। उसका कर्त्तव्य है कि वह सैनिकों का उचित भरण–पोषण करें; सेना को विभिन्न व्यूहों में सजाकर युद्ध हेतु भेजे; सहयोगियों से मित्रता का व्यवहार करें; युद्धभूमि में सैनिकों को प्रोत्साहित करें (6/19–20, 8/53), अपने स्वास्थ्य की रक्षा करें (7/38, 27/37), और वीरों को शिक्षित करें (12/80, 16/14),। वह युद्धविद्या को जानने वाला, अस्त्र–शस्त्र धारण करने वाला, सज्जनों का प्रिय, दुष्टों का विरोधी, सेनाओं को प्रसन्न रखने वाला, धनुष बाण की सहायता से शत्रु को जीतने वाला और शत्रु द्वारा फैंके गये बाणों से अपनी रक्षा करने वाला हो। उसे युद्ध के समय अस्त्र–शस्त्र सामग्री कम होने पर उसकी पूर्ति करनी चाहिए (16/3,7, 9–11, 51); युद्ध में नीच कर्म करने वालों को रोकना चाहिए; राजा और प्रजा के विरोधियों को दण्डित करना चाहिए; और तीक्ष्ण शस्त्रों से शत्रुओं के सेनाङ्गों को जीतना चाहिए (18/69–71, 33/67)।

सेना :– राजा और राज्य के लिए सेना अपरिहार्य है (6/3)। इसलिए सेना में श्रेष्ठ वीरों की नियुक्ति करनी चाहिए (7/29)। योद्धाओं को सेनाध्यक्ष के नेतृत्व में शत्रुओं को जीतना चाहिए (9/13); उन्हें दृढ़ प्रत्यञ्चा बाले धनुष एवं बाणों को धारण करना चाहिए; युद्ध से पलायन करने वालों, योद्धा के माता–पिता, स्त्रियों, युद्ध के प्रबन्धकों और दूतों को नहीं मारना चाहिए; शत्रु तथा उनके सम्बधियों को वश में रखना चाहिए; विजयप्राप्ति के लिए जाते समय अपने बल की परीक्षा करके पूर्णसामग्री से सम्पन्न होकर ही युद्ध करना चाहिए; और शत्रु के नियन्त्रण से अपने को बचाना चाहिए (16/10,15, 18/17, 20/53, 82)।

अथर्ववेद

राष्ट्र :– अपने देश और उसके निवासियों को परतन्त्रता के पाश से मुक्त रखना चाहिए। इस पर आक्रमण करने वाले और कब्जा करने वाले लोग ही इसके शत्रु हैं। इसके अस्तित्व की सुरक्षा के लिए इसमें सत्यप्रिय, उद्योगशील, महत्त्वाकांक्षी, उत्साही, वस्तुस्थितज्ञ, धैर्यवान्, साहसी, तेजस्वी, धर्मनिष्ठ, संयमी, स्वाध्यायशील, शान्त, स्थिरभावसम्पन्न, परोपकारपरायण, ईश्वरभक्त, दक्ष, नियमों का पालन करने वाले, आवश्यक पदार्थों का संग्रह करने वाले, त्यागी, स्वस्थ, दृढांग, दीर्घायु, हितकारी, व्यवहार में मधुर, परस्पर प्रेमयुक्त, निद्रा–तन्द्रा–आलस्य, अज्ञान, द्रोह से रहित, कार्यकुशल और एकता रखने वाले व्यक्तियों का निवास होना चाहिए; इसमें नेता, ज्ञानी, वीर, परोपकारपरायण, संन्यासी, रक्षा करने वाले विद्वान् ब्राह्मण, शूरवीर,क्षत्रिय, व्यापर में कुशल वैश्य और सेवापरायण शूद्र–सभी प्रकार के मनुष्य होने चाहिए; इसमें जल, वायु, अग्नि, सिंचाई के साधन, धनधान्य, उद्योग, कृषि, उत्तम औषधियाँ और रत्न पर्याप्त मात्रा में होने चाहिए; इसमें व्यक्ति को ज्ञान और यश की प्राप्ति के अवसर मिलने चाहिए; इसमें प्रजापालन समुचित रीति से होना चाहिए; इसमें प्राकृतिक स्थल शत्रुओं से रहित होने चाहिए; चोर, डाकू, हिंसक जन्तु, विषैले जन्तु और आततायियों

का अभाव होना चाहिए; इसमें होने वाली गति–विधियों की जानकारी शत्रुओं को नहीं मिलनी चाहिए; लोग शत्रुओं को पराजित करने वाले होने चाहिए; और इसमें नगर, वन, सभा, परिषद आदि होने चाहिए (12/1)।

राजा :– बहुत पहले राजा नहीं था, तब राज्य–संचालन के लिए गृहपति, सभा, समिति, मन्त्रिमण्डल, पंचायत आदि का निर्माण हुआ (वही, 8/107)। अथर्ववेद में मनुष्यों का हित करने वाली सभा का नाम नरिष्टा सभा बताया गया है (वही, 7/12)।

राजा को आत्मविश्वासी, धनवान्, प्रजारक्षक, शत्रु का दमन करने वाला, उत्साही, ज्ञानी, अजेय, दीर्घायु, क्षत्रियों का संरक्षक, श्रेष्ठ व्यक्तियों के कार्यक्षेत्र को विस्तृत करने वाला, बलवान्, धनधान्य का संग्रहकर्त्ता, विशाल और शीघ्रगामी रथ से युक्त, श्रेष्ठ शस्त्रों को धारण करने वाला, कल्याणकारी, निर्भय, स्थिर, प्रभावशाली शत्रुओं का प्रभाव क्षीण करने वाला, सोमरस पीने वाला, सज्जनों का पालक, तेजस्वी और सेना लेकर चढ़ाई करने वालों का दमन करने वाला होना चाहिए (वही, 3/6, 6/88, 7/62, 84–86, 91–93)। राजा का परमकर्त्तव्य है कि वह मित्र बनाये; प्रजा को सचेत करें; शत्रु का विनाश करें; विद्वान् लोगों से समय–समय पर मन्त्रणा लें; प्रजा के उपभोग की समस्त सामग्री प्रस्तुत करे; और शत्रु को नष्ट करने वाली, ओज और ऐश्वर्य बढ़ाने वाली, आयुष्य और स्वास्थ्य देने वाली, उत्साहवर्धक, विभिन्न प्रकार की औषधियों के रस से बनने वाली 'पर्णमणि' धारण करें (वही, 4/8, 3/5)। राजा राज्य के वरिष्ठ व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करे; और प्रजाजनों के बीच में साधारण व्यक्तियों के समान भ्रमण करते हुए उनकी सामर्थ्य बढ़ाये (3/4, 6–7)। विजयाभिलाषी राजा को शूरवीर, कीर्तियुक्त, प्रजा की समृद्धि को बढ़ाने वाला, राष्ट्र को क्षात्रतेज से सम्पन्न करने वाला और शत्रुओं को पराजित करने वाला बनना चाहिए। श्रेष्ठ राजा वह है जो पशुओं की रक्षा करें और राजकोष की वृद्धि करें (6/98, 7/50)। राजा का अभिषेक दिव्य जलों से किया जाना चाहिए (4/8, 3/5)।

क्षत्रियेतर प्रजाजन अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं होते। इसलिए उन्होंने राष्ट्र की व्यवस्था और प्रजा की रक्षा के लिए कल्याणकारी राजा चुना (6/128)।

प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह तेजस्वी व्यक्ति को राजा बनाये और राज्य के हित के लिए बाहर गये हुए राजा को पुनः बुलाये (3/4/1–5)। प्रजारन्जक, चञ्चलता से रहित, राष्ट्र की उन्नति में तत्पर और विद्वानों की सम्मति से शासन करने वाले व्यक्ति को ही राजा बनाना चाहिए (6/87)।

पुरोहित :– ज्ञानी पुरोहित का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र संवर्धक 'अभीवर्त' मणि राजा को पहिनाते हुए उसे प्रेरित करें कि वह दुर्व्यवहार करने वाले शत्रुओं को पराजित करें (1/29); वह ज्ञान के तेज से राष्ट्र को पराक्रमी बनाये; उत्साही बनाये; शत्रुओं का विनाश करवाये;

शस्त्रास्त्रों को तीक्ष्ण बनाने का उपदेश दें; विजय के लिए शुभकामनाएँ व्यक्त करें; और क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों को उनके योग्य शिक्षा दे (6/125)।

न्यायाधीश :– ऐसे व्यक्ति को न्यायाधीश बनाया जाना चाहिए; जो हितकारी, ज्ञानी, सत्कर्मा, शस्त्रधारी, उत्तमवाणी सम्पन्न, बलसम्पन्न, मैत्रीभावसम्पन्न, शुद्धाचरणसम्पन्न, तेजस्वी और मृत्यु से न डरने वाला हो। न्यायाधीश का कर्त्तव्य है कि वह अपराधानुसार दुष्टों को देश से निर्वासित करे; उन्हें लोहे की कील से छिदवाए; कारागार में बन्द करवाए; उन पर शस्त्र प्रहार करवाए; उनको मांस भक्षकों से नुचवाए; उनके विभिन्न अङ्गों को कटवाए; उन्हें गाय का दूध न पीने दे; जलाकर मरवाए; या वध करवाए (8/3, 8/4)।

कर नीति :– अथर्ववेद के अनुसार राजपुरुष प्रजा से उसकी आय का सोलहवाँ भाग 'कर' के रूप में लें। इसी 'कर' की सहायता से प्रजा को दुःख देने वालों को दण्ड दिया जाता है; प्रजा की सामर्थ्य बढ़ाई जाती है; उसको भयमुक्त किया जाता है; उसका अभ्युदय किया जाता है; सज्जनों का पालन किया जाता है; राष्ट्र का विस्तार किया जाता है; वीरों में प्रभविष्णुता की वृद्धि की जाती है; जाति का अस्तित्व स्थिर रखा जाता है; जनता के मनोरथों को पूर्ण किया जाता है; और प्रजा को विनाश से बचाया जाता है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखकर प्रजा को चाहिए कि वह राजा को 'कर' दें (3/29, 7/109)।

सेना :– प्रत्येक क्षत्रिय को प्रसन्न, उन्नतिशील, अश्वारोहण और रथारोहण में कुशल, सोमरस पीने वाला, पुरुषार्थी, प्रयत्नशील, शत्रु पर वेग से आक्रमण करने वाला, जीवन–कलह को दूर करने वाला और शस्त्र धारण करके युद्ध के लिए सदैव तैयार रहने वाला होना चाहिए (2/5)। प्रत्येक क्षत्रिय का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा को दुःख, आपसी झगड़े और अभाव से बचाये; तथा उनके ऐश्वर्य, संगठन और दीर्घायुष्य में वृद्धि करे (7/103)।

हमें दास बनाने की इच्छा करने वाले, हमें विनष्ट करने के इच्छुक और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हमसे शत्रुता रखने वाले सभी दुष्टों का विनाश कर देना चाहिए। शत्रुओं को अपने अस्त्र–शस्त्रों का लक्ष्य बनाना चाहिए अथवा उनसे दूर रहना चाहिए। ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हम शत्रु के शस्त्र प्रहार का लक्ष्य न बन पायें (7/19, 40, 108)। हमें सताने वाले और अपनी शक्ति बढ़ाकर हमें पराजित करने के इच्छुक शत्रुओं के प्रयत्नों को असफल कर देना चाहिए (7/70)। शत्रुओं का वध करने के लिए वज्रादि शस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए (5/20.–21, 6/125, 126, 134); उत्तम भोजन से अपना बल बढ़ाना चाहिए (6/135); ज्ञानी, पराक्रमी, मित्र, न्यायपरायण, धनी तथा अश्वों से युक्त व्यक्तियों सहित शत्रुओं का विनाश करके राज्य की रक्षा करनी चाहिए; रथ, दुन्दुभि और दुन्दुभि का घोष आदि से भी युद्ध में सहायता लेनी चाहिए; शत्रु का बल कम करने का प्रयत्न करना चाहिए; उसे भुजाओं से रहित कर देना चाहिए; भयभीत कर देना चाहिए (6/104, 6/65–67); यज्ञ, अग्नि, सोम,

पराक्रम और जितेन्द्रियता से शत्रुओं का विनाश करना चाहिए (6/97); शत्रुता करने वाले को अपने से इतना दूर कर देना चाहिए कि वह फिर लौटकर न आ सके (6/75); शत्रु के ऊपर वेग से निर्भयतापूर्वक आक्रमण करना चाहिए (5/8), हिंसक जन्तुओं और लुटेरों का विनाश कर देना चाहिए (4/3); दुष्टों का बल घटाकर उनसे स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिए; और घातक शत्रुओं एवं डाकुओं को दण्ड देना चाहिए (1/7, 7/90)। शत्रुसेना को जलाते हुए, सम्मोहित करते हुए, वेगपूर्वक शस्त्र चलाते हुए, पराक्रम से डराते हुए, देश से हटाते हुए, उसके विरूद्ध होते हुए, जब वह विभिन्न रोगों से ग्रस्त हो, तभी उस पर आक्रमण कर देना चाहिए (3/1,2)। युद्ध के समय सैनिक कवच धारण करके प्रसन्नतापूर्वक युद्धक्षेत्र में जायँ; शत्रु के किले को तोड़ें; उसकी सेना को मथें; शस्त्रों का प्रहार करें, उत्साहित हों, युद्धनीति के जाल में शत्रुओं को बाँधकर उन्हें शस्त्रास्त्रविहीन कर दें; और विजय प्राप्त करें (8/8, 1/118)।

माता–पिता का कर्त्तव्य है कि शत्रु का विनाश करने के लिए वे अपने पुत्र के शरीर को बलशाली बनायें (1/2, 6/64)। स्त्रियों का कर्त्तव्य है कि आवश्यकता होने पर वे भी अपना पराक्रम प्रदर्शित करें (1/27)। औषधियों के प्रयोग से भी शत्रु को पराजित करने का प्रयत्न करना चाहिए (2/27)। दीर्घसूत्री, जल्दबाज और बुराई को न रोकने वालों से कोई कार्य नहीं कराना चाहिए और युद्ध के समय ईश्वर को परमसहायक मानकर शत्रुओं पर विजय पाने का प्रयत्न करना चाहिए (7/50)।

विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम अपनी मातृभूमि के प्रति श्रद्धालु हों; उसमें योग्य और दैवी गुणों से युक्त सज्जनों को उचित स्थान दिया जाय; हममें संगठन की भावना हो; विरोधियों को भी एकता की शिक्षा मिले; और शासक स्वयं गुणी हो (1/15, 3/8, 6/94)। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में विजयप्राप्ति के लिए सैनिकों में बल, सामर्थ्य, पराक्रम, व्यूहनिर्माण में कुशलता, युद्धचातुर्य आदि का होना आवश्यक बताया गया है। साथ ही अपने पक्ष के क्षत–विक्षत सैनिकों के लिए औषधि, जल इत्यादि साधनों का प्रबन्ध भी आवश्यक है। शत्रुओं के पास इन सबका अभाव कर देना चाहिए ताकि उस पर विजय पाई जा सके (10/5)।

युद्ध के समय वीर सैनिक रक्तवर्ण की ध्वजाओं सहित उठें; तीन सन्धियों वाले वज्र, लोहे के अग्रभाग वाले और सुई की नोक के समान तीक्ष्ण तथा वेगशाली बाण धारण करें; कवच धारण करें; रथ पर चढ़ें; अपनी भुजायें और शस्त्रास्त्र तैयार रखें; शत्रुओं को अन्धकार ग्रस्त और संमोहित करें; अपने मित्रों को भी तैयार करें; शत्रुओं को घेरकर उन पर आक्रमण कर दें; उन्हें मार डालें; जीवित शत्रुओं को शरण में ले लें; और विभिन्न उपायों से उन्हें भयभीत करके उन पर आधिपत्य जमा लें (11/9–10)।

• • •

पुराण का पञ्चमवेदत्व– एक समीक्षा

डॉ0 विक्रम कुमार विवेकी
पंजाब वि0 वि0, चण्डीगढ़

ऋग्, यजुष्, साम एवं अथर्व के नाम से चार ही वेद सुप्रसिद्ध एवं सर्वमान्य हैं। अनेकत्र पुराण को भी जो पञ्चम् वेद की संज्ञा प्राप्त हुई है, वह विवेचनीय है। सर्वप्रथम पुराण के पञ्चम वेदत्व के पक्ष में कुछ प्रमाण द्रष्टव्य हैं–

अथर्ववेद में स्पष्टतया यह उल्लेख प्राप्त होता है कि पुराण ऋग् आदि अन्य वेदों के साथ ही उस यज्ञमय परमात्मा से उत्पन्न हुए–

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः।।[1]

ऋग्वेद में भी अनेक स्थलों पर पुरातन अर्थ मे पुराण शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] छान्दोग्योपनिषद् में अति स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होते हैं–

(क) ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चमंवेदानां वेदम्......।

(ख) नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः।

(ग) वाग्वा नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति, यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमम्।[3]

इनके अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, अन्य उपनिषदों, सूत्र ग्रन्थों, स्मृतियों तथा महाभारत आदि में 'पुराण' शब्द प्रायः वेदत्व के रूप में अनेक स्थानों पर उल्लिखित है।[4] स्वयं पुराण ग्रन्थ भी अपने वेदत्व होने का डिण्डिम घोष करते हैं– **पुराणं पञ्चमो वेद इति ब्रह्मानुशासनम्।।**[5]

उपर्युक्त नाना प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में 'पुराण' शब्द का क्या अभिप्राय है? पुराण को पञ्चम वेद कहने से क्या तात्पर्य अभिप्रेत है? इस तथ्य को जानना निष्कण्टक एवं अति सरल नहीं हे। यह विषय तब और भी अधिक जटिल हो जाता है जब व्यास के नाम से प्रोक्त अठारह पुराणों का अस्तित्व ही आजकल पाया जाता हो और उनमें अनेक स्थलों पर ऊल–जलूल प्रसंग पाये जाते हों।

यहां प्रश्न रेखांकित होता है कि आर्ष परम्परा की दृष्टि में जैसे चारों ऋग् आदि वेद

अपौरूषेय हैं, वैसे ही क्या पुराण भी अपौरूषेय पञ्चम वेद है। जैसे वेदों का आरम्भ ब्रह्मा से ही हुआ है ठीक उसी प्रकार से क्या पुराणों का आरम्भ भी ब्रह्मा से ही हुआ है। वैदिक मन्त्र जैसे ऋषि, देवता, छन्दों से बन्धे हुये हैं क्या पुराणों की भी यही स्थिति है या रही हैं?

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने स्व रचना 'पुराण विमर्श' के 'वक्तव्य' नामक अपनी भूमिका में उचित ही कहा है–"आजकल ऐतिहासिक पद्धति से पुराण के विश्लेषण की प्रथा इतनी जागरूक है कि उससे पुराण एक जीवित शास्त्र न रहकर अजायबघर में रखने की चीज बन जाता है। उसके अंग–प्रत्यंग का इतना निर्मम विश्लेषण आज किया जा रहा है कि उसके मूल में कोई तत्व ही अवशिष्ट नहीं रह जाता। वर्तमान अध्ययन की दिशा इस ओर एकान्ततः नहीं है। लेखक के एक हाथ में श्रद्धा है, तो दूसरे हाथ में तर्क। वह श्रद्धाविहीन तर्क का न तो आग्रही है और न ही तर्क विरहित श्रद्धा का पक्षपाती। इन दोनों के मञ्जुल समन्वय के प्रयोग से ही पुराण का यथार्थ अनुशीलन किया जा सकता है। ध्यान देने की बात है कि पुराण के तथ्यों में आपाततः यथार्थता आभासित न होने पर भी उनके मूल में (अन्तरंग में) यथार्थता विराजती है। परन्तु इसके लिए चाहिये उनके प्रति सहानुभूति, बहिरंग को हटाकर अन्तरंग को पहचानने का प्रयास।"उन्होंने भूरि–परिश्रम के माध्यम से अपने विशाल ग्रन्थ में पुराण के नाना पक्षों पर स्तुत्य प्रयास करके पुराण कथनों के अनेक निष्कर्ष भी निकाले हैं, जो विद्वानों के लिए संग्राह्य हैं।

महाभारत में भी जिस आशय से कहा गया है कि–**इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।** वेद के अर्थ को हृदयंगम करना हो तो इतिहास और पुराण की सहायता ले लेनी चाहिये, इस कथन का भी मूल अभिप्राय हमें जान लेना चाहिये।

यदि हम पुराणों के पञ्चम वेदत्व की समीक्षा करना चाहते हैं तो हमें 'पुराण' और 'वेद' दोनों शब्दों के व्यापक अर्थ को दृष्टि में रखकर चलना होगा। आज इन दोनों शब्दों का भी अत्यधिक अर्थ विस्तार हो गया है, जैसे धर्म और संस्कृति शब्दों का अत्यधिक अर्थ विस्तार हुआ है। परिणाम यह है कि इन शब्दों का ग्रन्थोक्त मूल–अर्थ या मूल–अभिप्राय नष्ट सा हो गया है। वेद का नाम लेते ही चार वेद तथा पुराण का नाम लेते ही 18 पुराण वाले अर्थों का ही संकेत ग्रह हमें होने लगता है। जब कि वस्तु स्थिति कुछ और ही है। यदि पुराण से अभिप्राय 18 पुराण ही होते तो इन पुराणों की रचना से पूर्व रचित वेद–ब्राह्मणादि ग्रन्थों में इन पुराणों की नाम चर्चा अवश्य होती। प्रायः पूर्ववर्ती एवं परवर्ती समस्त साहित्य में 'पुराण' शब्द के साथ इतिहास शब्द भी जुड़ा हुआ है तो क्या पुराण के पंचमवेदत्व में इतिहास भी वेदत्व की कोटी में आयेगा? और यदि इतिहास–पुराण को पंचम वेद कहा भी जाता है तो उसका क्या

अभिप्राय होना चाहिये? यह मनीषियों के लिए विवेच्य है।

वेद शब्द का अर्थ :– स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादि भाषा भूमिका के वेदोत्पत्ति विषय प्रकरण में वेद शब्द का अर्थ निम्न प्रकार से किया है– विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम् विद्लृ लाभे, विद् विचारणे, एतेभ्यो 'हलश्च' (अष्टा0 3.3.121) इति सूत्रेण करण अधिकरणकारकयोर्धञ् प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते। विदन्ति = जानन्ति विद्यन्ते = भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते = लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्या सर्वाः सर्वविद्या यैर्येषुवा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।। जिसका भाषार्थ है– एक विद् धातु ज्ञानार्थक है, दूसरा विद् सत्तार्थ है, तीसरे विद्लृ का लाभ अर्थ है, चौथे विद् का अर्थ विचार है। इन चार धातुओं से करण और अधिकरण कारक में 'धञ्' प्रत्यय् करने से 'वेद' शब्द सिद्ध होता है। जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़कर के विद्वान् होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक–ठीक सत्य–असत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक् संहिता आदि का 'वेद' नाम है।

आर्योद्देश्यरत्नमाला में वे लिखते हैं– जो ईश्वरोक्त, सत्य विद्याओं से युक्त, ऋक् संहिता आदि चार पुस्तक हैं, जिनसे मनुष्यों को सत्यासत्य का ज्ञान होता है, उनको 'वेद' कहते हैं। (95)

ऋ.भा.भू. के वेदसंज्ञा–विचार में प्रश्नोत्तर के माध्यम से उनका कथन है– प्रश्नः–वेद किन ग्रन्थों का नाम है? उत्तर ऋक्, यजुः, साम और अथर्व मन्त्रसंहिताओं का नाम वेद है, अन्य का नहीं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि स्वामी दयानन्द के मत में जहाँ वेद शब्द से अभिप्राय केवल सत्य विद्याओं से युक्त ऋग्, यजुः, साम और अथर्व संहिता आदि केवल चार ग्रन्थों से ही है, वहां चार धातुओं से निष्पक्ष वेद शब्द का अर्थ केवल इन्हीं चार संहिताओं में ही सीमित न रहकर विविध अन्य ज्ञानों से युक्त इतर ग्रन्थों को भी वेद नाम से संज्ञित कर दिया गया है। यही कारण है कि गोपथ ब्राह्मणकार कहने लगते हैं– पञ्चवेदान् निरमिमत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदम्। गो0ब्रा0 1.10

वें इतिहास को वेद मानने लगते हैं और पुराण को भी क्योंकि इनके माध्यम से लौकिक व्यवहारों कर्त्तव्यों एवं अकर्त्तव्यों का ज्ञान् ही प्राप्त होता है।

तभी तो महर्षि व्यास रचित विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ महाभारत को भी (जिसका यथार्थ स्वरूप आज भी सन्दिग्ध है) पञ्चम वेद कह दिया गया है और उसके विषय में घोषणा की गयी है:–

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्ष
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।।

परन्तु यह महाभारत ग्रन्थ आर्ष परम्परा प्रोक्त वेदों के अन्तर्गत तो नहीं आ जाता या अपौरूषेय वाणी तो नहीं कहलाती। ठीक यही स्थिति पुराण की है।

पुराण शब्द का अर्थ :– पा0सू0 4.3.23 सायं चिरं0 के अनुसार पुराभवम् पुराणम् (पुरातनम्)। पुरा नंवं भवति (नि0 3.19) = प्राचीन होकर भी जो नया होता है। वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण में भी पुराण का लक्षण है।[6] समस्त निर्वचनों से पुराण का अर्थ पुरातन = प्राचीन इतिहास अर्थ ही अवगत होता है। पुराण अर्थात् पुरातन, पुरातन घटनाओं का वर्णन। पुराण के स्वरूप के विषय में दो धाराओं का अनुमान किया जा सकता है।

1– पुराण अर्थात् पुरातन घटनाओं की वैदिक साहित्यिक धारा, जिसमें पुरातन प्राकृतिक घटनाओं का वर्णन है,इसलिए वेद में भी पुराण हैं अर्थात् पुरातन घटनायें हैं।

2– वैदिक साहित्येतर धारा जिसमें व्यासोत्तरधारा समाविष्ट है। आधुनिक समस्त पुराणों, उपपुराणों का अन्तर्भाव जिसमें हो जाता है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि समस्त वैदिक साहित्य में जहाँ कहीं भी 'पुराण' या 'इतिहास–पुराण' का उल्लेख हुआ है वहाँ पर कहीं भी इन अठारह पुराणों का नामोल्लेख नहीं है। आज जब कि तथ्य यह है कि आधुनिक सम्प्रदायों के पोषक विद्वान् प्राचीन पुराणेतिहास विद्या के तत्त्व को विस्मृत कर इन अठारह पुराणों को ही पुराण मानते हैं। "इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः" से तात्पर्य इन अवान्तरकालीन पुराण ग्रन्थों से नहीं है, क्योंकि वेदार्थ के उपवृंहण में इनका क्या योगदान हो सकता है। भागवत् पुराणोक्त मोहिनी अवतार, कृष्ण की रासलीला, चीरहरण लीला, शैव पुराणों में वर्णित शिवदूती प्रसंग आदि कथायें कौन से मन्त्रार्थ को स्पष्ट करती हैं? जहाँ तक स्वयं पुराणकारों द्वारा पुराण–प्रशंसक वाक्य लिखे गये हैं, वे केवल उपचार मात्र हैं। स्वरचना की प्रशंसा ही केवल वहाँ की गयी है– वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः। (स्कन्द रेखा खण्ड 1.22) वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने। (नारदीय पु0 2.24.17) इसी स्व प्रशंसा के भाव ने मत्स्य पुराणकार को इतना उत्साहित किया कि उसने कहा–

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तंर च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।। (मत्स्य पु0 52.3)

अर्थात् पहले ब्रह्मा ने पुराण रचे तत्पश्चात् वेद उसके मुखसे विनिर्गत हुये। जब कि वेद ही संसार के सर्व प्राचीन ग्रन्थ हैं। (इस कथन का विरोध ब्रह्म पु0 1.15 में द्र0)

विस्ताराय च वेदानां स्वयं नारायणः प्रभुः।
व्यासरूपेण कृतवान् पुराणानि महीतले।।

यच्च दृष्टं हि वेदेषु तद्दृष्टं स्मृतिभिः किल।
उभाभ्यां यत्तु दृष्टं हि तत् पुराणेषु गीयते।।

स्कन्द, रेवाखण्ड 1.22

डिंगल के महाकवि पृथ्वीराज राठौड़ ने अपनी रचना 'बेली किसन रूकमणी री' में अपने ग्रन्थ को पांचवां वेद और उन्नीसवां पुराण कहा है– 'पांचवों वेद र उण्णीसवों पुराण पीथल भाखियों, तो इसका तात्पर्य केवल स्वकाव्य–प्रशंसा मात्र है। काव्यकार के कथन मात्र से कृष्ण और रूक्मिणी के परिणय का वर्णन करने वाला यह काव्य वस्तुतः वेद या पुराण की श्रेणी में नहीं आ जायेगा। यही वस्तुस्थिति पुराणों की है।

डॉ0 बलदेव उपाध्याय पुराणों की तीन श्रेणियाँ मानते हैं। 1. प्राचीन पुराण 2. मध्यकालीन पुराण 3. अर्वाचीन पुराण। प्राचीन पुराणों में वे ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, मत्स्य, विष्णु का, मध्यकालीन पुराणों में श्रीमद्भागवत, कूर्म, स्कन्द और पद्म को तथा अन्य शेष पुराणों को अर्वाचीन मानते हैं। परन्तु ये तीनों श्रेणियाँ हमारे विचार से पञ्चम वेद की कोटि में नहीं आते। 'पुराण' को 'पञ्चम वेद' के अभिधान से संज्ञित जो प्रमाण वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं उनसे तात्पर्य वेदों में वर्णित प्राचीन, सर्वदा पुरातन (अर्थात् पुराण) प्राकृतिक घटनाओं से ही है जो हमारे ज्ञान की वृद्धि करते हुये हमें ज्ञानवान् बनाते हैं। इसलिए उन वेदवर्णित प्राकृतिक घटनाओं का विवरण या विश्लेषण करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थ आदि ही पुराण हैं। जो वेदार्थ को इतिहास, कथा आदि के माध्यम से स्पष्ट करने के कारण पञ्चम वेद कहे जा सकते हैं। जबकि वे मूल वेद नहीं हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के कुछ वक्तव्य इस विषय में उल्लेखनीय हैं:– जो प्राचीन ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि ऋषि मुनि कृत सत्यार्थ पुस्तक हैं उन्हीं को 'पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी कहते हैं। (आर्योद्देश्यरत्नमाला–17)

किंच तेषु तेषु वचनेष्वपीदमेव विज्ञायते यत् यस्माद् ब्राह्मणानीति संज्ञीपदमितिहासादिस्तेषां संज्ञेति। तद्यथा– ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीश्चेति। (ऋ0भा0भू0 वेदसंज्ञा विचारः)

देवासुराः संयत्ता आसन्।। (तै0सं0 1.5.1.1) इत्यादयः इतिहास ग्राह्याः।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।। छान्दोग्यो 6.2.1

आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत् किंचन मिषत्।।' '(ऐतरेयारण्यकोपनिषद् 1.1.1) आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। श0 ब्रा0 (11.1.6.1) इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीत्।।' इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ग्राह्याणि। अर्थात्

जिसमें जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है उस ब्राह्मण भाग का नाम पुराण है। जो ब्राह्मणग्रन्थों में 'देवविद्वान् और असुर मूर्ख ये दोनों युद्ध करने को तत्पर हुए थे' इत्यादि कथाओं का नाम इतिहास है।

कल्पा मन्त्रार्थसामर्थ्य प्रकाशकाः? तद्यथा–'इषे त्वोर्जे त्वेति वृष्ट्यै तदाह, यादाहेषे। त्वेत्यूर्जे त्वेति यो वृष्टाद्ग्रसो जायते तस्मै तदाह। जो वेदमन्त्रों के अर्थ, अर्थात् जिनमें द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन किया है, उनका नाम 'कल्प' है।

गाथा याज्ञवल्क्यजनकसंवादो। यथा शतपथ ब्राह्मणे गार्गी मैत्रेय्यादीनां परस्परं प्रश्नोत्तरकथनयुक्ताः सन्तीति। इसी प्रकार जैसे शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रैयी आदि की कथाओं का नाम 'गाथा' है।

नाराशस्यश्च, अत्राहुर्यास्काचार्याः नराशंसो यज्ञ इति काथक्यो नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरिति शाकपूणिर्नरैः प्रशस्यो भवित।। (नि0 8.6) नृणां यत्र प्रशंसा नृभिर्यत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरूक्ताद्यन्तर्गताः कथा नाराशंस्यो ग्राह्रया नातोऽन्या इति। और जिनमें नर अर्थात् मुनष्य लोगों ने ईश्वर, धर्म आदि पदार्थ विद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है, उनको 'नाराशंसी' कहते हैं। इस हेतु से भी ब्राह्मण पुस्तकों का नाम इतिहास आदि जानना चाहिये। क्योंकि इनमें इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी ये पांच प्रकार की कथा सब ठीक–ठीक लिखीं है। और भागवतादि को इतिहासादि नहीं जानना चाहिए, क्योंकि उनमें मिथ्या कथा बहुत सी लिखीं हैं। सो ब्रह्मदि जो वेदों के जानने वाले महर्षि लोग थे, उन्हीं के बनाये हुए ऐतरेय, शतपथ आदि वेदों के व्याख्यान हैं। इसी कारण से उनके किये ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण हुआ है। इससे निश्चय हुआ कि मन्त्र भाग की ही वेद संज्ञा है, ब्राह्मणग्रन्थों की नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रमाण वेदों के तुल्य नहीं हो सकता, क्योंकि वे ईश्वरोक्त नहीं है। परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं। (ऋ0भा0भू0, वेदसंज्ञाविचार)

स्वामी दयानन्द के उपर्युक्त कथन वेद और पुराण के विषय में सब कुछ स्पष्ट कर देते हैं। उनके मत में वेद चार ही हैं। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि में सर्वत्र जहां पुराण को पंचम वेद कहा गया है, वहां पुराण से तात्पर्य अष्टादश पुराण नहीं अपितु ऐतरेय आदि ब्राह्मण ही पुराण हैं तथा इतिहास शब्द का भी अभिप्राय ब्राह्मण ग्रन्थों का इतिहास से ही है।

ये ब्राह्मण ग्रन्थान्तर्गत इतिहास पुराण आदि भी मूल चार संहिताओं के मन्त्रों के अर्थ को सरल प्रणाली से हृदयंगम कराते हैं, इसलिये ये पंचम वेद कहलाते हैं। मूलतः ये वेद नहीं हैं। उपचार से ऐसा कहा जाता है। पुराण के पंचम वेदत्व होने के यत्र–तत्र उल्लिखित समस्त प्रमाणों का यही एकमात्र अभिप्राय है कि मूल पुराण विशेष प्रणाली के माध्यम से

वेदार्थ को स्पष्ट करते हैं। परन्तु वे पुराण का सही अर्थ उपर्युक्त रूपेण ही करते हैं। प्रश्नोत्तर के माध्यम से उनका कथन अति स्पष्ट है। सब पुराण और सब उपपुराणों को उन्होंने त्याज्य ग्रन्थों में परिगणित किया है। प्रश्नः– क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं? उत्तर थोड़ा सत्य तो हैं परन्तु इसके साथ बहुत सा असत्य भी है। इससे 'विषसम्पृक्तान्नवत्त्याज्याः' जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है, वैसे ये ग्रन्थ हैं। प्रश्नः– जो त्याज्य ग्रन्थों में सत्य है, उसका ग्रहण क्यों नहीं करते? उत्तरः–जो–जो उनमें सत्य है, सो–सो वेदादि सत्य शास्त्रों का है और मिथ्या उनके घर का है। वेदादि सत्य शास्त्रों के स्वीकार में सब सत्य का ग्रहण हो जाता है। जो कोई इन मिथ्या ग्रन्थों से सत्य का ग्रहण करना चाहे तो मिथ्या भी उसके गले लिपट जावे। इसलिये 'असत्यमिश्रं सत्यं दूरतस्त्याज्यमिति' असत्य से युक्त ग्रन्थ को भी वैसे छोड़ देना चाहिये, जैसे विषयुक्त अन्न को।

इतिहास और पुराण के विषय में आचार्य शंकर का कथन भी स्पष्ट है। उनके मत में इतिहास और पुराण दोनों ही वेद में उपलब्ध हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (7.1) के भाष्य में आचार्य शंकर लिखते हैं– "इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादादिः 'उर्वशी ह्यप्सरा' इत्यादि ब्राह्मणमेव। पुराणम् 'असद्वा इदमग्र आसीदित्यादि'। उर्वशी तथा पुरूखा के संवाद को सूचित करने वाला' उर्वशी ह्यप्सराः, पुरूखसमैडं चकमे' आदि (श0ब्रा0 11.5.1.1) इतिहास है तथा 'असद्वा इदमग्र आसीत् सृष्टि–प्रक्रिया से सम्बन्धित विवरण पुराण है। सायणाचार्य की मान्यता इसके विपरीत है। वे सृष्टि प्रक्रिया प्रतिपादकब्राह्मण भाग को पुराण कहते हैं।(द्र0 श0 ब्रा0 11.5.6.8, 11.1.6.1, 11.5.1.1. पर सायण भाष्य)

समस्त कथनों से अन्ततः निष्कर्ष यही निकलता है कि इतिहास और पुराण से अभिप्राय ब्राह्मण भाग ही हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के समान सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर आदि की चर्चा अद्यतनीय अष्टादश पुराणों में भी किये जाने के कारण ये भी पुराण ग्रन्थ तो हैं ही, परन्तु इनकी प्रामाणिकता वेदमूलकता के साथ–साथ ही माननी चाहियं। पारस्परिक विरोधोक्तियाँ तथा कामोद्दीपक ऊल–जलूल श्रैंगारिक वर्णन विषवत् त्याज्य ही हैं। जहाँ तक प्रतीकों के माध्यम से उदात्ततम कथ्यों का तात्पर्य निकलता है वे सब संग्राह्य तो हैं ही।

भुवन–कोष का वर्णन प्रायः प्रत्येक पुराण में उपलब्ध होता है। विश्व के भूगोल का वर्णन, मृत्यु के उपरान्त जीव की कर्मानुसार गति वर्णन, राजधर्म का वर्णन, आयुर्वेद–वर्णन, ज्योतिष–विद्या, छन्दः शास्त्र, अलंकार शास्त्र आदि का विवेचन, अद्वैत सिद्धान्त की चर्चा, स्वर्ग–नरक के स्वरूप का वर्णन, विविध आख्यान एवं प्रतीकों की व्याख्या आदि पुराणों के विषय परतः प्रमाण से ही स्वीकार्य हैं। पुराणों मं रामायण कथा, महाभारत कथा, अवतार

वर्णन, कृष्ण कथा, शिवलिंग की उपासना, तीर्थों का माहात्म्य, पापों से मुक्ति का वर्णन, कृष्ण की रासलीला आदि विषय भी उपवर्णित हैं जिनकी याथातथ्यतः प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

अतः वात्स्यायन ने न्यायसूत्र 4.1.62 के भाष्य में लोकवृत्त के ज्ञान के लिए इतिहास पुराण का प्रामाण्य माना है। कुमारिल स्मृतियों के समान पुराणों का प्रामाण्य परतः माना है। पुराण का वेदविरूद्ध अंश निर्मूलक होने के कारण से कथमपि प्रामाण्य नहीं रखता। (जै0सू0 1.3.1 पर तन्त्रवार्तिक) आचार्य शंकर 'स्मृतिश्च भवति' कहकर पुराणों के श्लोकों का उद्धरण देते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वे पुराण का प्रामाण्य स्मृति–कोटि में मानते हैं। (शारीरक भाष्य 1.3.33)

अन्ततः कहा जा सकता है पुराण साहित्य अतिविस्तृत हो गया है। जिस पुराण को पञ्चम वेद कहा गया है वे उपलब्ध 18 पुराण या अन्य उपपुराण नहीं हैं अपितु पुराण विद्या एक शैली रही हैं जो ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध है। वही शैली वेदार्थ का सरलतया अवगमक होने के कारण उपचार से पंचम वेद के अभिधान से मण्डित है। इस शैली की छाया यदि अर्वाचीन पुराणों में भी है और वह किसी अंश तक वेद विरोधी न होते हुये वेदार्थ का यथार्थ प्रतिपादक है तो उपचार से इन्हें भी पञ्चम वेद कहने से संकोच नहीं होना चाहिये। परन्तु स्वामी दयानन्द के कथनानुसार इनमें से सत्य को ग्रहण करते समय असत्य के गले लिपट जाने का अधिक भय हैं।

सन्दर्भ संकेत

1– अथर्व 11.7.4

2– ऋग्– 3.54.9 ; 3.58.6, 10.130.6

3– छान्दोग्य उप0 7.1.2.; 7.1.4; 7.2.1

4– द्र0 गोपथ ब्रा0 2.10; श.ब्रा. 11.5.6.8; 14.6.10.6; बृहदा0 उप0 2.4.11 महा0 आदिपर्व 1.86

5– स्कन्द पु0 रेवा खण्ड 1.18

6– यस्मात् पुरा हयनक्नींद पुराणं तेन तत् स्मृतम्। वायु0 1.2.3

यस्मात् पुरा ह्ययभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्। ब्रह्माण्ड 1.1.173

• • •

ऋग्वेदीय सृष्टि विज्ञान

-डॉ० सुरेन्द्र कुमार
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग
म०द०वि०वि०, रोहतक

यह विश्व कैसे बना? प्रारम्भ में क्या था? किस प्रकार इन सूर्य, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदि का निर्माण हुआ? इन प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिए प्राचीन काल से ही विभिन्न मानवीय सभ्यताओं के विद्वानों ने अथक प्रयास किया है। मध्यपूर्व (Middle East) की सृष्टि विषयक परिकल्पनाओं के अनुसार इस संसार का उद्‌भव देवी देवताओं से सम्बन्ध है। इन परिकल्पनाओं में Heliepolis (2700 ई० पू०) की विचारधारा अधिक व्यवस्थित है। अवेस्ता (600 ई० पू०) संसार की उद्‌भव प्रक्रिया पर प्रकाश डालता हुआ कहता है कि अहूमंजदा (Ormozed) ने सात लोकों का निर्माण किया। चीनी विद्वानों (300 ई० सन्) के अनुसार ब्रह्माण्ड (Cosmic eag) के दो भाग में टूटने से द्युलोक और पृथिवीलोक बने। जापानी धर्म (Shinto) के अनुसार (800 ई०पू०) सृष्टि से पूर्व एक तैल से परिपूर्ण समुद्र था, जिससे देवी देवताओं तथा उनके बाद संसार का निर्माण हुआ। इसी प्रकार की अन्य परिकल्पनाएं हैं। जो कि मैक्सिकों में Aztees द्वारा मेसोपोटेमिया में Caneenites द्वारा तथा रोम और ग्रीस के विद्वानों द्वारा समय पर होती रही हैं। इन सबके पश्चात् बाइबिल की कल्पना प्रसिद्धि को प्राप्त हुई जिसके अनुसार छः दिनों में पूरे संसार का निर्माण हुआ[1]।

गत तीन शताब्दियों में पाश्चात्य दार्शनिकों ने निरन्तर अवलोकन, अन्वेषण के पश्चात सृष्टि निर्माण की निर्दिष्ट परिकल्पनाओं को निराधार सिद्ध करने के साथ–साथ अभाव से भाव की धारणा (Concept of creatieex nihilo) को भी सदा के लिए निरस्त कर दिया। इसके स्थान पर Descarte ने प्रकृति की विकास प्रक्रिया (Gradual coming into existence of mattex) की कल्पना की। इस दृष्टिकोण के अनुसार एक आकस्मिक आपाती क्रिया द्वारा सृष्टि होना असम्भव है। इसके अनुसार यह संसार अरबों वर्ष तक चलने वाले प्राकृतिक विकास का परिणाम है[2]।

आधुनिक विज्ञान भी सूर्य नक्षत्रादिकों की उत्पत्ति प्रक्रिया के सम्बन्ध में किसी एक निश्चित सिद्धान्त पर दृढ़ नहीं है। वैज्ञानिको में इस विषय में सम्बद्ध विभिन्न मत प्रचलित हैं। यथा–बिंगबैंग सिद्धान्त[3] (Bing beng's Theory) ,लाप्लास सिद्धान्त[4] (Laplace's Theory) वेज्यकर सिद्धान्त[5] (Weitzseker's Theory), जीन्स का सिद्धान्त[6] (Jeens's Theory)

ज्वार भाटा अथवा ग्रहों का सिद्धान्त[7] (Tidal or Plantesimal Theory) आदि।

आधुनिक विज्ञान यह तो स्पष्ट करता है कि यह पृथिवी किसी समय सूर्य से पृथक् हुई थी। तथा अपनी प्रारम्भिक अवस्था में आग के गोले के समान थी, किन्तु सूर्यादि का निर्माण किस प्रकार हुआ? इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर आधुनिक विज्ञान में अत्यल्प ही मिलते हैं। सूर्यादि के निर्माण से पूर्व की अवस्था के सम्बन्ध में तो आधुनिक विज्ञान मौन ही है।

ऋग्वेद में तात्कालिक अवस्था तथा सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया का वर्णन विशद रूप से प्राप्त होता है। ऋग्वेद में इस प्रकार के वर्णन यत्र तत्र कई स्थानों पर प्राप्त होते हैं। यहाँ यह बात ध्यायय् है कि उन सभी स्थानों पर सृष्टि प्रक्रिया का क्रम एक ही है, केवल कथन प्रक्रिया में अन्तर है। मुख्य रूप से दशम मण्डल में इस विषय की पर्याप्त चर्चा हुई है। इसका नासदीय सूक्त इस विषय में अत्यन्त प्रसिद्ध है। प्रायः सभी विद्वानों ने इसे सृष्टि सम्बन्धी सूक्तों में प्रथम स्थान दिया है। पं0 मधुसूदन ओझा ने अपनी 'ब्रह्मविज्ञान' नामक कृति में इस सूक्त के दस वाद माने हैं। डा0 वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी इस सूक्त की व्याख्या की है तथा पं0 मधुसूदन ओझा द्वारा स्वीकृत वादों का वर्णन करते हुए अन्य मन्त्रों से तुलना की है[8]। ये वाद पं0 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने इस प्रकार वर्णित किये हैं[9]–

1– **सदसद्वाद** – इस वाद के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति सत् से, असत् से और सदसद् से हुई।

2– **रजोवाद** – इस वाद के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति रजस् तत्त्व से मानी गयी है।

3– **व्योमवाद** – यह व्योम शब्द से व्यवहृत परमाकाश हो इस विश्व का प्रभव प्रतिष्ठा और परायण है।

4– **अपरवाद** – इस वाद के अनुसार श्वेताश्वतर उपनिषद् में उक्त "कालस्वभावोनिपतिर्यदृच्छा" इत्यादि सृष्टि के कारण हैं।

5– **आवरणवाद** – सृष्टिवयुन तत्त्व से उत्पन्न हुई है।

6– **अम्भोवाद** – अम्भस् ही जगत् का उपादान है।

7– **अमृतमृत्युवाद** – अमृत और मृत्यु की संसृष्टि ही सृष्टि है।

8– **अहोरात्रवाद** – दिन और रात्रि इस दृश्यमान विश्व के मूल कारण हैं।

9– **देववाद** – देवयोग ही सृष्टि का कारण है।

10– **संशयतदुच्छेदवाद** – यदि कोई स्वतंत्रवाद नहीं है, क्योंकि इसमें सृष्टि के सम्बन्ध में प्राचीन वैज्ञानिकों के सन्देहों का विस्तार से वर्णन कर उनका समाधान किया गया है।

उक्त वादों का औचित्यानोचित्य निर्धारण एक पृथक् विषय है, पुनरपि यह कहने में कोई संकोच नहीं कि आधुनिक वैज्ञानिक विचारों से इन वादों की संगति नहीं बैठती। किन्तु ये वाद वैज्ञानिक विचार धारा के अनुकूल नहीं हैं, इसलिए अयुक्त हैं ऐसा कहने का साहस भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि सृष्टि के विषय में आधुनिक विज्ञान भी किसी एक मत पर निश्चयपूर्वक दृढ़ नहीं है।

स्वामी दयानन्द ने भी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के "सृष्टिविद्याविषय" नामक प्रकरण के पूर्व में नासदीय सूक्त को ही उद्धृत किया है[10]। स्वामी दयानन्द ने इस सूक्त के दार्शनिक पक्ष की उद्भावना की है, वैज्ञानिक पक्ष की नहीं। क्या अन्तर है वैज्ञानिक और दार्शनिक पक्षों के मध्य? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर शोपेनहार के शब्दों में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया जा सकता हैं– दर्शन का प्रारम्भ वहां होता है जहां विज्ञान समाप्त होता है। विज्ञान ज्ञात से अज्ञात की ओर नहीं बढ़ सकता जबकि दर्शन के लिए प्रत्येक वस्तु अज्ञात है।[11] अभिप्राय है कि दार्शनिक पक्ष, वैज्ञानिक पक्ष की अपेक्षा सूक्ष्मतर होता है।

यहाँ इस प्रकरण में ऋग्वेद के सृष्टि विषयक विचार को वैज्ञानिक पक्ष के परिप्रेक्ष्य में विविक्त किया गया है। विवेचन इस प्रकार है–

"नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासोद्रजोनो व्योमा परोयत्।
किमावरीवः कुरू कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।।[12]"

अर्थात्– उस समय न असत् था न सत् था। न रजस् था, आकाश इससे परे कुछ नहीं था। कैसा आवरण था? कहां व किसके आश्रय में था? गहन और गम्भीर जल क्या था?

प्रस्तुत मन्त्र के पूर्व चरण में न असत् था न सत् आदि कह कर तात्कालिक अवस्था के स्वरूप–निर्धारण का प्रयास किया है। दूसरे चरण में प्रश्नों के माध्यम से उस अवस्था की अनिर्देश्य , अव्यक्त स्थिति को लक्षित किया गया है। इस सूक्त के अगले मन्त्र में इस प्रकार का उल्लेख है कि उस समय सब ओर अन्धकार ही अन्धकार विद्यमान था –

"तमः आसीत्तमसा गूढ़मग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।"[12]

अर्थात्– प्रारम्भ में अन्धकार से ढका हुआ अन्धकार था, यह सब अव्यक्त ऊर्जा से व्याप्त था।

निर्दिष्ट वर्णन से स्पष्ट होता है कि उस समय चहुँ दिशि गहन अन्धकार का साम्राज्य

था क्योंकि प्रकाश कणों की उत्पत्ति नहीं हुई थी। सब ओर अप्रकेत सलिल व्याप्त था। सलिल शब्द गत्यर्थक षल्[13] धातु से निष्पन्न होता है, अतः सलिल शब्द गति का सूचक है। विज्ञान के अनुसार जिस प्रकार ऊर्जा को परिभाषित किया जाता है, उसमें भी गति अभीष्ट है[14]। अतः सलिल का अर्थ उर्जा करने में संकोच का अवसर नही। पं0 भगवद्दत्त के अनुसार यह सलिलवस्था लीनावस्था है जिसमें कि सब कुछ लीन था।[15] 'आपो वा इदमग्रे महत् सलिलमासीत् इस वाक्य को आधार बनाकर डा0 फतह सिंह सलिल की महत् से तुलना करते हुए लिखते हैं कि सलिल की भांति महत् भी सृष्टि का मूल कारण है और उसमें सारा नानात्व अव्यक्त रूप में छुपा रहता है।[16] इस प्रकार इन दोनों विद्वानों के मत में सलिल सृष्टि का मूल कारण है।

सृष्टि के निर्माण में ऊर्जा की प्रमुख भूमिका होती है। धातु प्रत्ययादि के आधार पर सलिल शब्द को ऊर्जा रूप में ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। यह ऊर्जा सृष्टि के आरम्भ में सब ओर विद्यमान थीं। सलिल शब्द के साथ विशेषण रूप में सम्बद्ध का 'अप्रकेत' शब्द यह सूचित करता है कि सृष्टि के पूर्व इस साम्यावस्था में गति तो हो रही थी किन्तु वह गति अथवा ऊर्जा अप्रकेत अर्थात् अव्यक्त थी।

दशम मण्डल के अन्य सूक्त में सृष्टि के रचनाक्रम को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"ऋतं व सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोध्यजायत।
ततोरात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः[17]।।

अभीद्ध तपस् अर्थात् सब ओर से प्रकाशमान् तप से ऋृत ओर सत्य पैदा हुए। उसके बाद रात्रि ओर तत्पश्चात् अर्णव समुद्र उत्पन्न हुआ। ऋृत शब्द 'ऋ गतो'[18] धातु से निष्पन्न होने के कारण गति का बोधक है। सत्य शब्द "अस्[19]" धातु से निष्पन्न होने के कारण सत्ता अथवा स्थिरता का बोधक है। रात्रि विश्राम अर्थात् जड़ता का प्रतीक है। तैत्तिरीय संहिता में गति ओर स्थिरता के समीकृत्त रूप रात्रि को तमस् कहा गया है।[20] इस प्रकार सर्व प्रथम सत्व, रजस् और तमस् उत्पन्न हुए जो क्रमशः स्थिति तत्त्व (Existence) गति तत्त्व (Motion) और जड़ तत्त्व (Inertia) की उत्पत्ति के कारण हैं। इसके पश्चात् अर्णव समुद्र अर्थात् ऊर्जारूपी महासमुद्र उत्पन्न हुआ। महा समुद्र से ऊर्जा का आनन्त्य लक्षित है। इस अनन्त ऊर्जा की ऋग्वेद में सलिल तथा अदिति आदि नामों से भी चर्चा हुई है। सलिल का ऊर्जा रूप में स्पष्टीकरण पूर्व में ही किया जा चुका है। सम्प्रति विचारणीय शब्द है अर्णव। "अर्णासि सन्ति यस्मिन् स अर्णव"[21] अर्णस् शब्द की निष्पत्ति गत्यर्थक ऋ धातु से होती है। स्पष्ट है कि गतिशील तत्त्वों का समूह ही अर्णव कहलाता है। गति और ऊर्जा का ऐक्य पूर्व

में दिखाया जा चुका है, अतः अर्णव का अर्थ हुआ ऊर्जा, तथा अर्णव समुद्र का अर्थ हुआ ऊर्जा का समुद्र (Ocean of Energy)। किसी भी क्रिया अथवा कार्य के लिए प्राथमिक रूप से ऊर्जा की आवश्यकता होती है और सृष्टि निर्माण तो बहुत व्यापक कार्य है उसके लिए ऊर्जा के समुद्र अर्थात् उर्जा की अपरिमित राशि का होना आवश्यक था। तत्पश्चात्–

"समुद्रावर्णवादधि संवत्सरो अजायत।[22]"

उस अर्णव समुद्र से संवत्सर उत्पन्न हुआ।

जैमिनीय ब्राह्मण में संवत्सर का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है– जो तपता है वह संवत्सर है। जो चमकता है वह संवत् है। मध्य कृष्णमण्डल है वह सर है।[23] यह चमकता शुक्ल अर्थात् वृद्धि तथा कृष्ण क्षय का सूचक है। वृद्धि ओर क्षय उत्थान–पतन के द्योतक हैं। उत्थान पतन में स्पन्दन क्रिया का होना अभीष्ट है। बिना किसी स्पन्दन क्रिया के वृद्धि क्षय अथवा उत्थान पतन नहीं हो सकता। सृ गतौ[24] धातु से निष्पन्न सर शब्द भी अपने अन्दर छुपी हुई गति को सूचित कर रहा है। इस प्रकार संवत्सर का भाव है स्पन्दन क्रिया। ऊर्जा के व्यक्त होते ही निर्माण के लिए कणों में स्पन्दन क्रिया होने लगी।

इसके बाद–

"अहो रात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी"।[25]

वशी ने अहोरात्र को धारण किया।

वशी शब्द कान्ति अर्थ वाली वश्[26] धातु से निष्पन्न है। अतः यह वशी, कान्ति युक्त था। इसने अहोरात्र को धारण किया। सामान्य लौकिक अर्थ में अहोरात्राणि का अर्थ दिन और रात होता है किन्तु यहां इसका यह अर्थ नहीं किया जा सकता। क्योंकि जब सूर्यादि ही उत्पन्न नहीं हुए थे तब दिन और रात्रि की उत्पत्ति कैसे सम्भव है। मैत्रायणी संहिता के अनुसार जो शुक्ल है वह अह का रूप है जो कृष्ण है वह रात्रि का[27]। उर्जा से उत्पन्न होने के कारण वह प्रकाश युक्त है। रात्रि तम अर्थात् जड़ पदार्थ है जिनसे निर्माण कार्य हुआ है।

इसके पश्चात्–

"सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्"।[28]

सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई।

यहाँ सूर्य ओर चन्द्रमा से वर्तमान सूर्य और चन्द्र का ग्रहण नहीं। आचार्य यास्क ने सूर्य शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की है– सूर्यः सर्तेर्वा। सुवतेर्वा। स्वोर्यतेर्वा[29]। इस प्रकार गतियुक्त पिण्ड सूर्य हैं। सूर्य शब्द स्वर शब्द से भी व्युत्पन्न है। स्वर का अर्थ होता है चमकना (Light)[30]। अतः सूर्य प्रकाशमान तथा गति युक्त पिण्ड हैं। चन्द्रमा से अभिप्राय यहां

अन्धकार युक्त पिण्डों से है। ब्राह्मणकार "रात्रिर्वै चन्द्रमा"[31] कहकर इस तथ्य की पुष्टि करता है। अतः चन्द्रमस् ऐसे पिण्ड हैं जिनमें स्वयं प्रकाश नहीं, दूसरों के प्रकाश से प्रकाश ग्रहण करके प्रकाशित होते हैं।

ये स्वयं में अन्धकार युक्त पिण्ड भी गति युक्त हैं। चन्द्रमा शब्द की निष्पत्ति "चण"[32] और "द्रम"[33] धातु से होती है। दोनों ही धातुएँ गत्यर्थक हैं। अतः अन्धकार युक्त चन्द्रमा गतिशील भी हैं। उक्त सादृश्यों के आधार पर ही हमारे सूर्य तथा चन्द्र का नाम सूर्य, चन्द्र पड़ा है। प्रकाशमय तथा अन्धकारमय पिण्डों के सृजन के बाद सूर्य पृथिवी आकाशादि का निर्माण हुआ–

"दिवं व पृथिवीञ्चान्तरिक्षमयो स्वः"[34]।

दिव शब्द की मूल धातु 'दिव्'[35] द्योतन अर्थात् चमकने के अर्थ वाली है। अतः दिवं से आशय चमकने वाले सूर्य तथा उसके समान अन्य तारों से है। पृथिवी पद से पृथिवी तथा उसकी तरह के अन्य ग्रह ग्राह्य हैं। अन्तरिक्ष का अर्थ वायुमण्डल (Air atmosphere) किया गया है।[36] स्वः का अर्थ है आकाश[37] (Sky) इस प्रकार अन्त में सूर्य, पृथिवी, वायुमण्डल तथा आकाश का निर्माण हुआ।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है। ऋग्वेद के अनुसार सृष्टि को व्यवस्थित रूप देने में एक सर्वशक्तिमान् सत्ता का योगदान है। जिसे कि व्याख्यात सूक्त के अन्तिम मन्त्र में 'धाता' पद से सम्बोधित किया गया है। मन्त्र में पठित 'यथापूर्वम्' पद इस बात को लक्षित कर रहा है कि वर्तमान सृष्टि, प्रथम सृष्टि नहीं। इससे पूर्व भी सृष्टि होती रही है। तथा इसके बाद भी होती रहेगी। तथा प्रत्येक कल्प में सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया समाम होती है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्ति विषय नामक प्रकरण में वेदोत्पत्ति तथा जगदुत्पत्ति काल की विवेचना करते हुए स्वामी दयानन्द लिखते है– एक अरब छियानवे करोड़ आठ लाख बावन हजार नौ सौ छियत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में व्यतीत हुए हैं[38]। स्वामी दयानन्द ने अपने इस कथन का आधार मनुस्मृति आदि ग्रन्थों को बनाया है। आधुनिक वैज्ञानिक भी सृष्टि को लगभग दो अरब वर्ष पुराना स्वीकार करते हैं।[39] आधुनिक वैज्ञानिकों ने सृष्टि की प्रत्नता का कोई निश्चित समय निर्धारित नहीं किया। उनका कथन है कि जब कभी सृष्टि के किसी भाग विशेष की आयु का परीक्षण करते हैं,उत्तर सदैव लगभग समान ही होता है कि कुछ अरब वर्ष पूर्व।[40]

सन्दर्भ संकेत

1- Enclepaedia American (1981, Vol. 8 p. 162-64)

2- Enclepaedia American (1981, Vol. 8, p. 164)

3- वही

4- Otto, Schmidt, A theory of the origin of the Earth. p. 11

5- वही

6- Boris Levin, the origin of the Earth and plane . p. 24

7- वही

8- Sparks from the Vedic Fire p. 63-76

9- वैदिक विज्ञानम्. पृ0 34–36

10- ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय. पृ0 85

11- Philosophy begins where Science ends. Science can not proceed from the known to unknown as every thing is unknown to Philosophy. History of Philosophy. Quoted by Acharya Vaidyanatha Shastri in Darshana Tettva Viveka. p.2

12- ऋग्0 10/129/1

13– ऋग्0 10/129/2

14– पल् गती, धातुपाठ, भ्वादिगण

15- Work is defined as a factor responsible for some sort of change in physical relationship.....Energy in turn, since it is defined as the ability to do work is involved in any change in physical relationship. fred, Cottvell, Energy and Society. p.6

16- वेदविद्यानिदर्शन, पृ0 91

17- वैदिक दर्शन, पृ0 88–89

18- ऋग्0 10/190/1

19- ऋ गतो, धातुपाठ, भ्वादिगण

20- अस् भवि, धातुपाठ, अदादिगण

21- तमो रात्रिः । से0 सं0 1/5/9/5

22- द्रष्टव्य–अर्णव शब्द, सं0हि0को0

23- ऋग् 10/190/2

24- असो एव संवत्सरो यो सो तपति। तस्य यद् भाति तद् संवद् पन्मध्ये कृष्णं मण्डलं सत्सर इत्यधि देवतम्। जे0ब्रा0 2/20

25- स् गतो, धातु पाठ, भ्वादिगण।

26– ऋग्0 10/190/2

27- वश कान्तो, धातुपाठ, अदादिगण

28- यच्छुवलं तदहूनो रूपं यत्कृष्णं तद्रात्रेः। मे0 सं0 3/6/6

29- ऋग् 10/190/3

30- निरूक्त 12/10

31- द्रष्टव्य–संस्कृत अंग्रेजी शब्दकोश, स्वर शब्द

32- मा0श0 12/4/4/7

33- चण् गतो, धातुपाठ, भ्वादिगण

34- द्रम् गतो, धातुपाठ, भ्वादिगण

35- ऋग् 10/190/3

36- दिवु क्रीडा........द्युति.....। धातुपाठ, दिवादिगण

37- द्रष्टव्य–संस्कृत अंग्रेजी शब्दकोश, अन्तरिक्ष शब्द

38- द्रष्टव्य–वही, स्वर शब्द

39- ऋग्वेदादि भा0 भू0 वेदोत्पत्तिविषय, पृ0 17

40- The Universe began to expand two billion years ago. The Universe and Dr. Enstein p. 115

Quoted by : Dharma Deva Mehate in positive Science in the Vedas. p. 32 Astromical evidence clearly indicates that the multitude of stars we see in the sky- our sun among them- could not have existed eternally and were probbly formed earlier than some two billion years ago from the hot primordial gas that previously Biography of the Earth. p.2. वही

41- Thus we see that whenever we anquire about the age of some particular part or property of the Universe, we always get the same approximate answere A few billion years old.

Prof. Ganow : The Creation of the Universe, p.20 Quoted by by D.D. Mehta in the Positive Science in the Vedas, p. 33.

• • •

द्यावा पृथिवी के नामों की आध्यात्मिक तथा सृष्टि प्रक्रिया विषयक व्याख्या

डॉ0 रघुवीर वेदालंकार, वेदाचार्य
रीडर, रामजस कालेज, दिल्ली

नीचे की पक्तियों में निघण्टु में पठित द्यावापृथिवी के नामों में से कुछ नामों के आध्यात्मिक पक्ष पर प्रकाश डालने का यत्न किया गया है। अथर्व0 4.14.3 में कहा गया है कि मैं पृथिवी की पीठ से अन्तरिक्ष में आरूढ़ हो गया तथा अन्तरिक्ष से भूलोक में आरूढ़ हो गया हूँ। सुखदायक भूलोक की पीठ से स्वः रूपी ज्योति को प्राप्त हो गया हूँ। इस मन्त्र में भूलोक से भी परे स्वर्ज्योति तक जाने की बात कही गयी है। स्पष्ट है कि यह स्वर्ज्योति आध्यात्मिक हैं क्योंकि भौतिक रूप में तीन ही लोक माने जाते हैं। यद्यपि भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् के रूप में सात लोक भी माने गये है किन्तु वहां भी इनका आध्यात्मिक अर्थ ही अभिप्रेत है न कि भौतिक रूप में कोई सात लोक। इससे पूर्व इसी सूक्त के दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि द्युलोक की पीठ रूपी स्वर्गलोक को जाकर देवों के साथ मिश्रित होकर बैठो। यह सब आध्यात्मिक प्रक्रिया है क्योंकि ऐसे किसी लोक की सत्ता सिद्ध नहीं है जहां कि देवता निवास करते हो।

आध्यात्मिक प्रक्रिया में पृथिवी स्थूल देह का वाचक है। पृथिवी तत्व की प्रधानता होने के कारण शरीर को पार्थिव भी कहते हैं। इस तत्व से ऊपर उठकर अर्थात् अन्नमय कोष से ऊपर उठकर अन्तरिक्ष अर्थात् प्राणमय कोष को जीवात्मा प्राप्त करता है। वायु अन्तरिक्ष का गुण है तथा प्राणायाम में प्राण का ही संयम करना होता है। प्राणमय कोष से क्रमशः मनोमय कोष का भेदन करता हुआ साधक विज्ञानमय कोष की प्राप्ति करता है। इसे ही मंत्र में 'दिवस्पृष्ठम्' कहा है। यह प्रकाशमय लोक है। यही पर विशोका नाम की बुद्धि उत्पन्न होती है जिसके लिए योगदर्शन में 'विशोका वा ज्योतिष्मती 'कहा गया है। इसे ही ऋतम्भरा प्रज्ञा भी कहते हैं। इसकी व्याख्या में योग सूत्र भाष्यकार व्यास देव जी कहते हैं– सा ऋतमेव बिभर्ति। नच तत्र विपर्यासज्ञानगन्धो ऽप्यस्तीति। इस बुद्धि के द्वारा आत्म साक्षात्कार होता है। उपनिषदों में इसी को लक्ष्य में रखकर कहा गया है– प्रज्ञानेनैन माप्नुयात्। यह प्रज्ञान, विज्ञानमय कोष को प्राप्त करके प्राप्त होता है। इसे ही वेदमन्त्र में द्युलोक कहा है। यह प्रकाश का लोक है, ज्ञान का लोक है। आध्यात्मिक योगी यही पर विराम् नहीं लेता अपितु इससे भी आगे वह स्वर्ज्योति को प्राप्त करता है। इसे ही अथर्ववेद में हिरण्यकोष कहा है। यह ज्योति से आवृत है। यह आनन्दमयी अवस्था है जो कि विज्ञानमय कोष के उपरान्त आनन्दमय कोष में पहुँचने पर प्राप्त होती है। यह आत्मसाक्षात्कार की तथा ब्रह्म साक्षात्कार की अवस्था

है। इस अवस्था के लिए ही कहा गया है रसो वै सः। रसं हि लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। ऊपर द्वितीय मन्त्र में कहा गया है कि स्वर्ग प्राप्त करके देवों के साथ मिलकर बैठते हैं। ये देव वे ही देव पुरुष है जिन्होंने पहले भी इस अवस्था को प्राप्त कर लिया है। इनके विषय में कहा गया है– यत्र पूर्वे समजग्मुः साध्या ऋषयश्च में। इनकी समकक्षता को ही यह योगी प्राप्त कर लेता है। यही है उसका देवों के साथ मिलकर बैठना अथवा इस अवस्था में दिव्य भाव तथा दिव्य शक्तियों की प्राप्ति को भी देवों के साथ मिलकर बैठना कहा जा सकता है।

स्वधे– द्यावापृथिवी के नामों में स्वधे पद भी पठित है। इसी स्वर्ज्योति को धारण करने के कारण मनुष्य के द्यु भाग अर्थात् शिर तथा पृथिवी भाग अर्थात् शेष शरीर की स्वधा संज्ञा होती हैं। स्व+धा = स्व को धारण करने वाला स्वधा का ही द्विवचन में स्वधे बनता है जो स्वर्ज्योति को धारण करने वाले मस्तिष्क तथा शेष शरीर के लिए प्रयुक्त किया गया है।

रोदसी तथा क्रन्दसीः– द्यावा पृथिवी के नामों में रोदसी तथा क्रन्दसी भी पठित हैं। भौतिक अर्थ में प्रजापति के रोने के कारण इनका नाम रोदसी पड़ा। ब्राह्मण ग्रन्थों में मन को ही प्रजापति कहा गया है। यह मन ही अहं रूपी वृत्र के आक्रान्त होकर रोता है। प्राणों को भी रूद्र कहा गया हैं। क्योंकि ये मन को रुलाने में सहायक होते हैं। स्वर्ज्योति को धारण करके ही मन तथा जीवात्मा का यह रूदन बन्द होता है। यही स्वधा नाम की सार्थकता हैं अब द्यावापृथिवी का स्वरूप ही बदल गया। उन्होंने स्वर्ज्योति को धारण कर लिया। ऋग्वेद 7. 53.2 में द्यावा पृथिवी को ऋत का सदन बनाने की प्रार्थना की गयी है जिससे कि ये द्यावापृथिवी दैव्यजन के साथ यहां आएं। यहां पर ऋत के सदन बनाने का साधन यज्ञ दिया गयाहै। अयज्ञीय भावना रहने पर ऋत का सदन नहीं बना जा सकता। अनृत ही वह बाधक तत्व है जो यज्ञीय भावना को दूर भगाता है तथा जिसके अभाव में द्यावापृथिवी रोदनशील रोदसी बन जाते हैं। अनृत के दूर होते ही वे ऋत के सदन बन जाते है। ऋतम्भरा प्रज्ञा इसी अवस्था का नाम है।

द्युलोक तथा पृथिवी लोक के 6 भाग–ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में तीन द्यौ तीन अन्तरिक्ष तथा तीन पृथिवी की चर्चा कई स्थानों पर की गई है। अथर्व 4.9.16 में 'षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः' कहकर द्यावापृथिवी के 6 प्रकार बतलाए गये हैं। अथर्व 19.27.3 में भी तीन द्युलोक, तीन अन्तरिक्ष तीन पृथिवी इनके साथ चार समुद्रो की बात कही गयी है। इस मत्र के वर्णन से स्पष्ट है कि इसमें भूमि, आकाश तथा द्युलोक के तीन तीन विभागों की कल्पना की गयी है।

इस मंत्र में पठित दिन, अन्तरिक्ष, पृथिवी तथा समुद्र पदों का अभिधेयार्थ वह नहीं है जो कि हम भौतिक रूप में लेते हैं। समुद्र की व्याख्या के लिए हमें अथर्व काण्ड 11 के ब्रह्मचर्य सूक्त को देखना चाहिए वहां पर चतुर्थ मंत्र में कहा गया है– स सद्यएति पूर्वस्माद् उतरं समुद्र। यहां विचारणीय है कि इन स्थलों में आध्यात्मिक दृष्टि से द्यावा पृथिवी के त्रैविध्य का

क्या अर्थ है। पीछे हमने मस्तिष्क को द्युलोक माना है। 'शीर्ष्णो द्यौ समवर्तत तथा दिवं यश्चक्रे मूर्धानम् (अथर्व 10.7.32) आदि मंत्र भी इसके प्रमाण हैं।

मस्तिष्क मूल रूप में दो भागों में विभक्त है– वृहद् मस्तिष्क तथा लघुमस्तिष्क। बृहद् मस्तिष्क के भी दो भाग हैं। इन भागों को मस्तिष्क गोलार्ध कहते है। छाया गोलार्ध तथा वामा गोलार्ध। इस प्रकार मस्तिष्क के इन तीन भागों को द्युलोक के तीन भाग कहा जा सकता है। यद्यपि यह भी द्युलोक की आध्यात्मिक व्याख्या है तथापि भौतिकता को लिए हुए है। अथर्व 10.10.32 में एक मंत्र आता है। इसमें कहा गया है कि वशा नामक शक्ति से कुछ लोक सोम का दोहन करते हैं तथा कुछ लोक धृत की उपासना करते हैं। विद्वान् को वशा प्रदान करने वाले लोग द्युलोक के त्रिदिव विभाग को प्राप्त होते है। यहां सब कुछ आध्यात्मिक वर्णन है। यह सोम कोई औषधी नहीं है अपितु यह वही ब्रह्मानन्द रूपी सोम है। जिसके विषय में कहा गया है– सोम यं ब्राह्मणो विदु: न तस्याश्नाति कश्चन ऋ 10.85.3। यहां पर वर्णित धृत भी लौकिक धृत नहीं है। धृत शब्द/धृ क्षरणदीप्त्यो: से बना है। क्षरित होने वाले दीप्ति युक्त तत्व का नाम ही धृत है। योगी जनों को ध्यानावस्था में आनन्द रस का क्षरण होता है तथा तेज की प्राप्ति होती रहती है। यही है उनका धृतपान। यजुर्वेद में अन्यत्र भी एक स्थान पर ऐसा कहा गया है– धृतं मे चक्षु: (यजु0) वशा नामक शक्ति की सहायता से कुछ लोग त्रिदिव 'दिव:' को प्राप्त कर लेते हैं। ये सभी समाधि की अवस्थाऐं है। योग दर्शन में हमको मधुमती, ज्योतिष्मती आदि नामों से पुकारा गया है। योगी इसी स्थिति को प्राप्त करता है। यही है द्युलोक की आध्यात्मिकी व्याख्या। विदेहा वस्था योगी, प्रकृतिलीन योगी तथा आत्मलीन योगी के रूप में भी तीन भाग किए जा सकतें है।

इसी प्रकार अन्तरिक्ष के भी आध्यात्मिक स्तर पर तीन भाग है। अन्तरिक्ष की व्याख्या में यास्काराचार्य कहते हैं– शरीरेष्वन्तर क्षयमिति वा शरीर में भी मध्य भाग को अन्तरिक्ष कहते है। इसी भाग में हमारा मन रहता है। हमारे मन के मुख्यत: तीन स्वरूप है। मननात्मक होने से मन संस्कारों का संग्राहक होने से चित्त तथा बोध रखने के कारण इसे हीं बुद्धि भी कहा जाता है। ये ही तीन प्रकार के अन्तरिक्ष हैं। इस प्रकार द्युलोक तथा पृथिवी लोक इसी शरीर में स्थित हैं। इस प्रकार अथर्ववेद के इस मन्त्र में पूर्णत: आध्यात्मिक प्रक्रिया वर्णित है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे का सिद्धान्त शास्त्रसम्मत है। जिस प्रकार की क्रिया वाह्‌य ब्रह्माण्ड में हो रही है। वही इस शरीर में भी हो रही है। यदि इस मंत्र का आधिभौतिक अर्थ करें तो यही कहा जायेगा कि आकाशगामी यान के द्वारा मैं पृथिवी से अन्तरिक्ष में तथा अन्तरिक्ष से द्युलोक में पहुंच गया। यहां तक तो संगति है किन्तु आगे की संगति नहीं लगती कि द्युलोक से आगे स्वर्ज्योति को प्राप्त किया। आध्यात्मिक पक्ष में मंत्र की पूर्ण संगति लग जाती है।

• • •

वैदिक भौतिकी : गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में अध्ययन तथा शोध का एक नया आयाम

– डॉ0 बुद्ध प्रकाश शुक्ल
पूर्वअध्यक्ष, भौतिकी विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी वि0वि0, हरिद्वार

बचपन में एक फिल्म देखी थी। नाम था रामराज्य। अपने समय की अत्यन्त उत्कृष्ट फिल्म थी। जब पहली बार यह फिल्म रिलीज़ हुई थी तो लगातार एक वर्ष से भी अधिक चली थी। उस फिल्म में एक दृश्य था– श्रीराम प्रातःकाल राजमहल के एक कक्ष में जाते हैं जिसमें सूर्यदेव की मूर्ति है जो सात घोड़ों के रथ पर आरूढ़ हैं तथा श्रीराम के पूर्वजों; यथा– राजा भगीरथ, हरिश्चन्द्र, दिलीप, रघु, अज और दशरथ की भी मूर्तियाँ हैं। श्रीराम जी प्रत्येक मूर्ति पर पुष्पांज़लि अर्पित करते हुए जाते हैं और पार्श्व में एक गीत चलता है, जिसकी एक पंक्ति थी–

"सात अश्व के रथ पर सारथी अरूण विराजे।"

उस समय यही बात समझ में आई कि सूर्य सात घोड़ों के रथ पर आसमान में भ्रमण करता है। ठीक उसी तरह जैसे बच्चों को कहानी में बताया जाता है कि चन्द्रमा में एक बुढ़िया चरखा कात रही है। जब कुछ बड़ा हुआ तो स्कूल में विज्ञान विषय में पढ़ा कि सर आइज़ेक न्यूटन ने काँच की एक प्रिज़्म में सूर्य की किरणों को गुजारा तो वह सात रंगों में विभक्त हो गईं और सात रंगों (बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी एवं लाल) के इस समूह को स्पेक्ट्रम कहते हैं। अब मन में एक प्रश्न उठा कि एक ओर सूर्य को सात घोड़ों के रथ पर आरूढ़ दिखाया गया है दूसरी ओर सूर्य में सात रंग हैं– इन दोनों का आपस में क्या संबंध है ?

एक ओर घटनाक्रम भी कुछ इसी प्रकार से है। बचपन में ही एक पौराणिक कथा सुनी थी कि वामन भगवान ने राक्षसों के राजा बलि से दान में तीन पग धरती मांगी। राजा बलि ने सहर्ष दान देना स्वीकार किया तो बावन अंगुल के वामन भगवान ने एक पग से संपूर्ण धरती, दूसरे पग से संपूर्ण पाताल लोक और तीसरे पग से संपूर्ण आकाश को नाप दिया और राजा बलि को अपदस्थ कर दिया। जब हाईस्कूल परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् इण्टरमीडिएट कक्षा में प्रवेश किया तो गणित में निर्देशांक ज्यामिति विषय पढ़ने लगा जो कि तीन विमाओं की ज्यामिति है और इसमें तीन अक्षों x, y, और z के परितः ठोस वस्तुओं के आकार को नापा

जाता है और ये तीनों अक्ष परस्पर लम्बवत् होती हैं। ब्रह्माण्ड के संपूर्ण स्पेस (Space) को x, y, और z इन तीन विमाओं में नापा जा सकता है। फिर मस्तिष्क में एक प्रश्न उभरा कि क्या वामन भगवान के तीन पग और तीन अक्षों x, y, z के बीच कोई संबंध है ?

पिताश्री एक अध्यापक थे। गणित उनका प्रिय विषय था। वेद, उपनिषद्, पुराण, दर्शन शास्त्रों और धर्म में उनकी गहरी अभिरूचि थी। कर्मकांड में अटूट विश्वास था। हिन्दुओं के सभी त्यौहार श्राद्ध, तर्पण एवं संध्योपासन तथा पर्वों पर गंगास्नान ये सभी कृत्य अत्यन्त निष्ठा से विधिविधान पूर्वक सम्पन्न किंये जाते थे। अध्ययन, अध्यापन एवं कर्मकाण्ड के प्रति उनका अनुशासन अत्यन्त कड़ा था। घर में राजनैतिक, सामाजिक, दार्शनिक तथा धार्मिक व शैक्षिक विषयों को लेकर अक्सर चर्चाएं होती रहती थीं जिसमें घर के सभी लोग, आगन्तुक और पास-पड़ोस के लोग भाग लेते थे। मुझे इस प्रकार की चर्चायें सुनने और कभी-कभी अपनी समझ के अनुसार उसमें हिस्सा लेने में बहुत आनन्द आता था। आज मैं यह अनुभव करता हूँ कि वह एक अद्‌भुत वातावरण था जो कि अब ढूढ़ने पर भी कहीं उपलब्ध नहीं होता। एक दिन मैंने पिताजी से प्रश्न किया कि वेदों में क्या है?, तो पिताजी का उत्तर था वेदों में सभी कुछ है– वे सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार हैं।

समय बीतता गया और मैंने विज्ञान विषयों को लेकर बी0एस-सी0 में प्रवेश लिया और अंततोगत्वा भौतिकी (Physics) विषय में एम0एस-सी0 उत्तीर्ण किया। यह भी भाग्य का खेल था कि एम0एस-सी0 उत्तीर्ण करने के पश्चात मुझे भौतिकी प्रवक्ता के पद पर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ जिसकी स्थापना श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने वेद, वेदांगों, भारतीय दर्शन, इतिहास को मूल में रखकर आधुनिकतम ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा-दीक्षा के लिये की थी। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के वातावरण को भी मैंने ज्ञान-विज्ञान एवं धर्म से ओतप्रोत पाया। यहाँ के आचार्यों से बात करो अथवा विद्यार्थियों से, उनके वार्तालाप का स्तर अत्यन्त ऊँचा होता था। आपसी प्रेम और सम्मान का तो कहना ही क्या। यदि एक वाक्य में कहूँ तो मुझे मेरे बचपन का घर दुबारा से मिल गया था।

विश्वविद्यालय में बहुधा अत्यन्त उच्च कोटि के विद्वानों के व्याख्यान होते थे। छात्रावास के सभागार (टेकचन्द नागिया हाल) में अक्सर रात्रि के समय व्याख्यानों का आयोजन होता था। व्याख्यान के उपरान्त प्रश्नोत्तर होते थे। सब कुछ मिलाकर एक ऐसा समा बनता था जिसमें ज्ञानार्जन के साथ-साथ आनन्द की अनुभूति होती थी। इन व्याख्यानों की श्रेणी में

अनेक बार मुझे गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के अत्यन्त यशस्वी स्नातक, उद्भट विद्वान, ओजस्वी वक्ता एवं आर्यजगत के कीर्ति स्तम्भ पं0 बुद्धदेव विद्यालंकार जी (सन्यासोपरान्त स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज) के व्याख्यानों को सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ। अनेक बार उनसे व्यक्तिगत रूप से वार्तालाप करने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। एक बार उन्होंने मुझे यजुर्वेद के कुछ मन्त्र बताये– उनका कहना था कि इन मंत्रों में गणित है और उन्होंने मुझे यह सलाह दी कि मैं इन मंत्रों पर शोध करूँ। बड़ा उत्साहित किया था उन्होंने मुझे, किन्तु उस समय मैं ऐसा कुछ नहीं कर सका। किन्तु शनैः शनैः वेदों के प्रति रूचि यह जानकर बढ़ रही थी कि वेदों में विज्ञान विषय का वर्णन है। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज के लिये दस नियम बनाये जिसमें से एक नियम यह है कि– "वेद समस्त सत्य विद्याओं की पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना प्रत्येक आर्य का परम धर्म है।" इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द जी ने एक व्याख्यान में कहा था– "The discoveries of modern science are just the distant echoes of Vedic Hymns." इन प्रसंगों ने मुझे इस बात के लिये प्रेरित किया कि मैं यह जानने का प्रयास करूँ कि वैदिक मंत्रों की विज्ञान सम्मत व्याख्या क्या हो सकती है?

अध्ययन, अध्यापन एवं शोध के अतिरिक्त मेरी एक अभिरूचि रही है वैज्ञानिक विषयों पर लोकप्रिय व्याख्यान (Popular talk) देना। इस प्रकार के अनेक व्याख्यान मैंने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में, आस-पास की शिक्षण संस्थाओं तथा रोटरी क्लब में दिये हैं। इस प्रकार के व्याख्यानों में विश्वविद्यालय के शिक्षकों एवं छात्रों के अतिरिक्त तत्कालीन कुलपति पं0 सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार एवं आचार्य पं0 प्रियव्रत वेदवाचस्पति भी उपस्थित रहते थे। पं0 सत्यव्रत जी एवं आचार्य प्रियव्रत जी विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। वैदिक वाङ्मय एवं दर्शनशास्त्र के प्रकांड पंडित होने के साथ-साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान में भी इनकी गहरी अभिरूचि थी तथा वैज्ञानिक विषयों की बारीकियों को अत्यन्त सरलता से ग्रहण कर लेते थे। सामान्यतया मानविकी के विद्वानों के लिये यह कठिन होता है। अतः अपने व्याख्यान में उनकी उपस्थिति मेरे लिये प्रेरणा का स्रोत होती थी। दोनों ही महानुभावों ने अनेक कालजयी ग्रन्थों की रचना की है। दोनों ने ही आगे चलकर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति एवं परिद्रष्टा (Visitor) के पद को सुशोभित किया। पं0 सत्यव्रत जी का एक ग्रन्थ है "वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार", इस ग्रन्थ के लेखन के दौरान पंडित जी को भौतिकी के क्वाण्टम सिद्धान्त के आधार पर स्वतंत्र इच्छाशक्ति (Free Will) और नियतिवाद (Determinism)

का तुलनात्मक विवेचन करना था। वे दिल्ली से गुरुकुल पधारे थे। इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। अपने तीन–चार दिन के प्रवास के दौरान उन्होंने अनेक बार मुझसे इस विषय पर चर्चा की। उपरोक्त ग्रन्थ के पृष्ठ 223 पर इसका उल्लेख है। इस ग्रन्थ का विमोचन तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने किया था। पंडित जी से उपरोक्त विषय पर जो चर्चा हुई, उससे मेरे मन में यह विश्वास और दृढ़ हो गया कि वेदों की वैज्ञानिकता असंदिग्ध है।

आर्य जगत के अन्य लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् आचार्य श्री वैद्यनाथ शास्त्री जी ने एक बार गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में यजुर्वेद परायण यज्ञ का संचालन किया था। यज्ञ के उपरान्त प्रतिदिन उनका व्याख्यान होता था। उन व्याख्यानों में उन्होंने ऐसे अनेक तथ्यों का विवेचन किया, जिससे यह ज्ञात होता था कि वेद की अनेक ऋचाओं में विज्ञान सम्बन्धी विषयों की चर्चा है।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में व्याख्यान देने के लिये बहुधा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर डा० आर.एस. ओझा आया करते थे। कालान्तर में डा० ओझा की नियुक्ति जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय दिल्ली में हो गई। तब भी वह गुरुकुल आते रहते थे। वह अत्यन्त उच्च कोटि के विद्वान थे। अंग्रेजी, हिन्दी, तथा संस्कृत भाषा पर उन्हें पूर्ण अधिकार था। उनके व्याख्यानों की विषय सामग्री एवं भाषा-शैली अत्यन्त सारगर्भित, विचारोत्तेजक, प्रभावशाली, अत्यन्त स्पष्ट और ग्राह्य होती थी। एक बार उन्होंने अपने एक व्याख्यान के दौरान कहा कि "Roma Rola has written that a parallelism should be found between Mayavad & Relativity." यह वाक्य मेरे लिए अत्यन्त प्रेरणादायक सिद्ध हुआ। कालान्तर में मैंने एक शोध-पत्र लिखा। जिसके सृजन के पीछे प्रोफेसर ओझा द्वारा उद्धृत रोमा-रोला का उपरोक्त वाक्य था। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

इस कड़ी में एक अन्य घटना का उल्लेख भी प्रासंगिक है। एक बार दिल्ली में बचपन के अपने एक घनिष्ठ मित्र श्री कृष्ण बिहारी शुक्ल (जो उस समय दिल्ली प्रशासन में अतिरिक्त जिलाधीश थे) के साथ एक फिल्म देखने का सुअवसर मिला। हम लोग अपने विद्यार्थी जीवन में अनेक फिल्में अक्सर साथ ही देखा करते थे। यह फिल्म थी "आविष्कार"। जिसके नायक राजेश खन्ना का एक संवाद था– "समय नहीं बीतता हम बीत जाते हैं।" इस पर मेरे मित्र का कहना था "वंडरफुल"। मुझे ऐसा लगा कि इस संवाद का मूल स्रोत कहीं वैदिक वाङ्मय में छिपा हुआ है। मेरे मित्र मेरी इस धारणा से सहमत नहीं थे। ग्रीष्मावकाश में मुझे अपने घर कानपुर जाने का मौका मिला। वहाँ पूज्य पिताजी से इस विषय पर चर्चा हुई तो उन्होंने मुझे

बताया कि भर्तृहरि के "नीति शतक" में इसका उल्लेख है और उन्होंने वह श्लोक सुना दिया,

"भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता,
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ता।
कालो न या तो वयमेव याता,
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा।"

(भर्तृहरि रचित नीतिशतक का श्लोक 12)

बीसवीं शताब्दी के ही नहीं वरन सर आइज़ेक न्यूटन के उपरान्त सबसे बड़े भौतिकविद् अल्बर्ट आइन्स्टाइन द्वारा प्रतिपादित सापेक्षवाद के सिद्धान्त के अनुसार, समय एक सापेक्ष भौतिक राशि है जो घटनाक्रम पर आधारित है। यदि घटनाक्रम रूक जाये तो समय का कोई आभास नहीं होगा। अर्थात् घटनाक्रम से पृथक "समय" का न तो कोई अस्तित्व है न ही उसकी कोई अवधारणा। इस आधार पर आगे चलकर एक शोध-पत्र विकसित हो सका "Concept of Time-Ancient and Modern" जो वैज्ञानिक शोध पत्रिका आर्यभट्ट में प्रकाशित हुआ। भौतिकी विषय के अध्ययन और अध्यापन के दौरान अनेक बार मस्तिष्क में ऐसे विचारों का उदय होता है जो जड़ भौतिक पदार्थ संबंधी विज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर आध्यात्मिक एवं मानसिक जगत को घटनाओं की व्याख्या करते हैं। भौतिक विज्ञान में न्यूटन के "गति के तीसरे नियम" के अनुसार, "प्रत्येक क्रिया की समान एवं विपरीत प्रतिक्रिया होती है।" आध्यात्मिक जगत में इस नियम का पर्याय है "जैसी करनी वैसी भरनी" अथवा " जैसा बोओगे वैसा काटोगे।" इसी प्रकार "विद्युत चुम्बकीय प्रेरण" के सिद्धान्त के अनुसार "यदि किसी विद्युत परिपथ में विद्युत वाहक बल आरोपित कर विद्युत धारा प्रवाहित की जाये तो परिपथ में एक विद्युत वाहक बल प्रेरित हो जाता है जो आरोपित विद्युत वाहक बल का विरोध करता है।" हम व्यावहारिक जगत में देखते हैं कि जब भी कोई नई विचारधारा समाज के समक्ष प्रस्तुत होती है तो प्रारम्भ में उसका विरोध होता है।

अध्ययन, अध्यापन, विद्वानों के व्याख्यान एवं उनके व्यक्तिगत वार्तालाप से मेरे मन में एक विचार ने जन्म लिया कि अध्ययन एवं शोध का एक ऐसा केन्द्र होना चाहिए जिसमें प्राचीन एवं अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान के तुलात्मक अध्ययन एवं शोध का प्रावधान हो। इस केन्द्र में तीन प्रकार के विद्वान होने चाहिए।

1. वैदिक एवं संस्कृत वाङ्मय के पंडित।
2. आधुनिक विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के विद्वान्।

3. ऐसे विद्वान जो उपरोक्त दोनों प्रकार के घटकों के बीच कड़ी का कार्य करें।

इस बीच सन 1990 में मुझे पुनः भौतिकी विभाग के अध्यक्ष पद का कार्यभार संभालना पड़ा। इससे पूर्व में सन् 1966 से 1980 तक इस पद पर कार्यरत था। अब भौतिकी विभाग के समक्ष एक बहुत बड़ी चुनौती थी स्नातकोत्तर कक्षाएँ एवं शोध कार्य प्रारम्भ करने की। इससे पूर्व भी भौतिकी, रसायन, जन्तु विज्ञान एवं वनस्पति विज्ञान में एक-एक बार स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ हुई थीं। परन्तु कुछ अपरिहार्य कारणों से उन्हें बंद करना पड़ा था।

अतः सन् 1990 में जब विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली के पास भौतिकी एवं रसायन विषयों में स्नातकोत्तर कक्षायें प्रारम्भ करने का प्रस्ताव गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा प्रस्तुत किया गया तो अनुदान आयोग ने पूछा कि हमारे स्नातकोत्तर कार्यक्रम की क्या विशेषता है ? इस पर भौतिकी विभाग ने एक सर्वथा नवीन पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया जिसमें आधुनिक भौतिकी के साथ वैदिक भौतिकी का भी समावेश था। जब यह पाठ्यक्रम विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के समक्ष प्रस्तुत किया गया तो आयोग ने सहर्ष स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ करने की अनुमति दे दी। इस प्रकार सन् 1991 से भौतिकी विभाग में स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ हो गईं। साथ ही पी-एच.डी. उपाधि हेतु शोधकार्य करने की अनुमति भी प्राप्त हो गई। मेरे लिये यह परम संतोष का विषय था क्योंकि इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु हमें वर्षों संघर्ष करना पड़ा था। इससे भी बड़ी बात यह थी कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग को सर्वप्रथम "वैदिक भौतिकी" विषय को प्रारम्भ करने का श्रेय प्राप्त हुआ। मुझे भीतर से ऐसी अनुभूति हुई कि हमारे वैदिक मनीषियों, आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द जी एवं उनके उपरान्त विश्वविद्यालय का संचालन एवं संवर्धन करने वाले अनेकानेक आचार्य एवं प्रशासक जिन वैदिक आदर्शों से प्रेरित होकर इस संस्था की सेवा करते रहे उनकी परम्परा में यह एक छोटा सा योगदान था। अपनी कुल परम्परा एवं गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यलय के सेवाकाल में विद्वानों के संसर्ग से प्राचीन एवं अर्वाचीन विज्ञान के सिद्धान्तों में जो एकरूपता प्रतीत हुई उसे "वैदिक भौतिकी" के पाठ्यक्रम के रूप में प्रस्तुत करने का एक छोटा सा प्रयास किया है।

उपरोक्त कार्य के संपादन में मुझे जो सफलता मिली उसकी पृष्ठभूमि में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति श्री सुभाषचन्द्र विद्यालंकार का अभूतपूर्व योगदान है। भारत की परमाणु शक्ति के जनक डा0 होमी जहांगीर भाभा से किसी ने प्रश्न

किया कि इतने बड़े परमाणु संस्थान को खड़ा करने में आपकी सफलता का क्या रहस्य है? डा0 भाभा का उत्तर था "I have put my faith in the youngman and tried to do a way with as many rules of red tasism as possible to get a suitable person". श्री सुभाषचन्द्र विद्यालंकार की कार्यशैली भी कुछ इसी प्रकार की थी अन्यथा विश्वविद्यालय के दकियानूसी नियमों के रहते भौतिकी तथा रसायन विषयों में एम0एस-सी0 कक्षाओं के प्रारम्भ के साथ ही पी-एच0डी0 कार्यक्रम प्रारम्भ न हो पाता, उसके लिए पाँच वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ती।

श्री सुभाषचन्द्र विद्यालंकार के कार्यकाल समाप्त होने पर डा0 धर्मपाल जी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में नियुक्त हुए। इससे पूर्व वह दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर थे एवं आर्यजगत के प्रथम श्रेणी के अग्रणी नेता रहे हैं। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के संरक्षण, संवर्धन एवं विकास में उनका योगदान अविस्मरणीय रहेगा। सन् 1995 के अक्टूबर मास में राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान नई दिल्ली का रजत जयन्ती समारोह था। इसमें अनेक कार्यक्रमों की श्रेणी में एक संगोष्ठी का भी आयोजन किया गया था। मुझे इसमें शोध पत्र प्रस्तुत करने का आमंत्रण मिला। संगोष्ठी का विषय था "Science, Engineering and Technology in Sanskrit Literature" निमंत्रण-पत्र पाकर मुझे आश्चर्य हुआ कि आखिरकार राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान को मेरे विषय में जानकारी किस प्रकार मिली। मैं भौतिकी कें अन्य प्रश्नपत्रों के साथ ही एम0एस-सी0 में "वैदिक भौतिकी" विषय का अध्यापन भी कर रहा था। मैंने इस कार्य का प्रचार करने का भी कोई प्रयास नहीं किया था। अतः मैंने कुलपति डा0 धर्मपाल जी से भेंट कर यह जानना चाहा, मेरे कार्य के विषय में राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान को जानकारी किस प्रकार मिली तो उनका उत्तर था– "यह नहीं पूछा करते, आप अपना शोधपत्र अवश्य प्रस्तुत कीजिए।" मुझे अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया था और शोधपत्र प्रस्तुत करने के लिए प्रेरणा भी।

अतः 13 अक्टूबर 1995 को मैंने नेशनल म्यूजियम इन्स्टीट्यूट, नई दिल्ली में संस्कृत संस्थान द्वारा आयोजित संगोष्ठी में अपना शोधपत्र "Mayavad & Modern Physics" प्रस्तुत किया जिसकी प्रेरणा मुझे डा0 आर0एस0 ओझा के उस व्याख्यान से मिली थी जिसमें उन्होंने रोमा-रोला का उल्लेख किया था जिसकी चर्चा मैं पहले ही कर चुका हूँ। मेरी सुखद अनुभूति का पारावार नहीं था जब मैंने देखा कि संगोष्ठी के उपरान्त भोजन के समय संगोष्ठी में पधारे अनेक विद्वानों ने मुझसे संपर्क किया और मेरे शोधपत्र की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

जीवन में ऐसे सुअवसर की प्राप्ति के लिए मैं गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के तत्कालीन एवं वर्तमान कुलपति माननीय डा0 धर्मपाल जी का हृदय से आभारी हूँ। माननीय कुलपति जी को मेरे शोधपत्र के विषय में अन्य सूत्रों से जानकारी प्राप्त हुई और वह बहुधा इसकी चर्चा लोगों के बीच कर देते हैं। उनके शब्दों से मुझे अध्ययन और शोध के लिये प्रेरणा मिलती है।

मैंने भौतिकी विषय में एम0एस-सी0 एवं पी-एच0डी0 की उपाधि ग्रहण की है। संस्कृत भाषा का मुझे मामूली सा ज्ञान है। अतः वैदिक भौतिकी विषय के अध्यापन में वेद मंत्रों का शाब्दिक अर्थ करना मेरे लिए संभव नहीं है। इस कार्य के लिये मैंने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डा0 भारत भूषण वेदालंकार से सहायता माँगी, उन्होंने लगभग एक माह तक प्रतिदिन सायंकाल मुझे अपना अमूल्य समय दिया और संबंधित वेदमंत्रों के अर्थ जानने में मेरी मदद की। उनके इस सहयोग के लिए मैं हृदय से उनका आभार प्रकट करता हूँ।

1991 में जब भौतिकी विषय में स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ हुईं तो "वैदिक भौतिकी" का प्रश्नपत्र "क्वालीफाइंग पेपर" के रूप में लगाया गया क्योंकि यह एक प्रारम्भिक प्रयोग था। जब डा0 धर्मपाल जी ने कुलपति के पद का कार्यभार संभाला तो उन्हें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि पाठ्यक्रम में वैदिक भौतिकी का समावेश है। साथ ही उन्होंने अपनी यह इच्छा भी व्यक्त कि वैदिक भौतिकी को क्वालीफाइंग पेपर के रूप में न रखकर "कोर पेपर (Core Paper) के रूप में रखना चाहिए। किन्तु दुर्भाग्यवश विषय समिति (Board of Studies) में यह प्रस्ताव पास नहीं हो सका। तब माननीय कुलपति डा0 धर्मपाल जी ने एक अत्यन्त साहसिक कदम उठाया। अपने विशेषाधिकार का उपयोग करते हुए उन्होंने वैदिक भौतिकी के प्रश्नपत्र को कोर–प्रश्नपत्र बनाने का निर्णय दिया। उनके इस निर्णय की मैं भूरि–भूरि सराहना करता हूँ, क्योंकि इससे विषय के अध्ययन और अध्यापन में काफी गंभीरता आ गई है और इस विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण छात्रों का भौतिकी जगत में एक विशेष स्थान है।

अंत में मैं रुड़की विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग के पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष डा0 नरेशचन्द्र वार्ष्णेय के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने वैदिक भौतिकी के पाठ्यक्रम के निर्माण में मूल्यवान सुझाव दिये।

• • •

यजुर्वेद में आत्मावाची अभिधान वा विशेषण

डॉ0 वीरेन्द्र अलंकार
रीडर,संस्कृत विभाग,
पंजाब वि0 वि0, चण्डीगढ़

भारतीय दर्शन में ईश्वर, जीव, प्रकृति– इन तत्त्वों का बड़ी गम्भीरता से विवेचन हुआ है। इन तीनों तत्वों की व्याख्या इस बात का प्रमाण है कि सभी दार्शनिक प्रस्थानों को किसी न किसी रूप में ये त्रिविध तत्व स्वीकार्य हैं। वेद में 'आत्मा' शब्द परमात्मा तथा जीवात्मा–दोनों के लिए व्यवहृत हुआ है। वेद में जीव तथा आत्मा ये दोनों शब्द उपलब्ध हैं। आस्तिक दर्शनों में जीवात्मा का जो विवेचन मिलता है, उसका उत्स वेद में विद्यमान है। दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद के भाष्य में जीव और आत्मा शब्दों के अतिरिक्त अग्नि, इन्द्र, रूद्र, काम, क्रतु, प्रजापति, विश्वदेव, देव लोक और अधिपति–इन देवशास्त्रीय शब्दों का अर्थ भी प्रसगांनुरोधेन जीवात्मा किया है। इन अभिधानों के अध्ययन से जीवात्मा के स्वरूप, सामर्थ्य, गुण और स्वभाव का अध्ययन सुकर हो जाता है। उक्त अभिधानों का सन्दर्भ सहित उल्लेख करना ही इस पत्र का प्रतिपाद्य व उद्देश्य है। जीवात्मा की वाचक निम्न संज्ञाएं यजुर्वेद में उपलब्ध हैं–

1. आत्मा : आत्माशब्द वेदों में उपलब्ध है– भूम्या असुरसृगात्मा[1] आत्मा शब्द दो अर्थों में प्रसिद्ध है– सर्वज्ञ परमात्मा और अल्पज्ञ जीवात्मा। आत्मा शब्द की ईश्वरार्थक निरूक्ति यह है– अतति सर्वत्र व्याप्नोतीति[2] (सर्वान्तर्यामी परमात्मा) जीवात्मार्थक 'आत्मा' शब्द की निरूक्ति अत सातत्यगमने धातु से इस प्रकार की जा सकती है– अतति सततं गतिशीलो भवति पुनः पुनर्जन्मग्रहणेन शरीरधारणेनेति आत्मा। यजुर्वेदभाष्य में स्वामी जी ने आत्मा शब्द का अर्थ इच्छादि गुण समवेत किया है।[3] आत्मा का वाच्यार्थ है– स्वस्वरूप।[4]

2. जीव : 'जीव' शब्द का व्यवहार वेद में बहुधा हुआ है। जीव शब्द अल्पज्ञ जीवात्मार्थक ही है–

अनच्छये तुरगातु जीवमेतद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभि रमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।।[5]
जीवेभ्यस्त्वा समुद्रे वायुरिन्द्रे धाता दधातु।।[6]

स्वामी दयानन्द ने निरूक्ति के अधार पर जीव शब्द की व्याख्या की है– जीवति प्राणं धारयति, प्राणधारणेन समर्थो भवति[7] अर्थात शरीर में जिससे प्राण धारण किए जाते हैं, वह जीव है। स्वामी जी ने जीव शब्द का अर्थ – 'ज्ञानसाधनयुक्त' किया है।[8]

3. अग्नि : अग्नि शब्द बह्वर्थक है। अग्नि पद अध्यात्मार्थ में ईश्वर का भी वाचक है, और भौतिक अग्नि का भी। ईश्वरार्थक अग्नि पद का अर्थ स्वामी जी ने प्रकाश युक्त, विज्ञान स्वरूप आदि किया है।[9] स्वामी जी ने अग्नि शब्द को जीवार्थक भी स्वीकार किया है।[10] वहां अग्नि शब्द विशेषण के रूप में है। अग्नि का अर्थ है– अग्नि के समान बर्ताव करने वाला विद्वान् जीव[11], अग्नितुल्य अर्थात् देहान्त प्रापक जीव[12] और सूर्य के समान प्रकाशवान् जीव।[13] अग्नि विशेषण से जीवात्मा के अपने स्वरूप का बोध होता है कि वह प्रकाशयुक्त अर्थात् शुद्ध स्वरूप है।

4. इन्द्र : स्वामी जी ने 'इन्द्र' पद का अर्थ कई स्थलों में जीव किया है।[14] जीवार्थक 'इन्द्र' पद किन किन ब्राह्मणों में आया है– यह अनुसन्धातव्य है। स्वामी जी ने यहाँ कोई प्रमाण नहीं दिया है। इन्द्र पद की जीवार्थक निरूक्ति का भी यजुर्वेदभाष्य में अभाव है। इन्द्र पद से जीव अर्थ का स्पष्ट आधार क्या है, यह भी विचारणीय है। यजुर्भाष्य में इसका एक संकेत उपलब्ध है– इन्द्र का अर्थ सूर्य हैं इसी आधार पर स्वामी जी ने इन्द्र का अर्थ किया है– सूर्य के तुल्य तेजस्वी जीव।[15] एक अन्य स्थल में स्वामी जी ने 'इन्द्रपत्नी' शब्द का अर्थ 'जीवात्मा की स्त्री के तुल्य वाणी'[16] किया है।

'इन्द्र' शब्द ऐश्वर्यार्थक इदि धातु से व्युत्पन्न है। अतः अपने स्वरूपावस्थान में जीवात्मा की मोक्षानन्द प्राप्ति का इसे संकेत किस स्तर तक स्वीकार किया जा सकता है– यह विचारणीय है।

5. अज : स्वामी जी जीव को अनादि स्वीकार करते हैं– सर्वे जीवाः स्वरूपतोऽनादयस्तेषां कर्माणि सर्वं कार्यं जगच्च प्रवाहेणैवानादीनि सन्तीति।[17] यजुर्वेद में भी आत्मा को अज[18] कहा गया हैं। अज का अर्थ है जो न कभी उत्पन्न हो, जिसका कोई कारण न हो, स्वयं सिद्ध हो, वह अज अथवा अनादि है। स्वयं सिद्ध होने से आत्मा स्वयम्भू[19] है।अतः आत्मा स्वयं सिद्ध है। यह किसी भी उपादान कारण से नहीं बना है।

6. रूद्र : दयानन्द यजुर्भाष्य में 'रूद्र' पद ईश्वरार्थक भी है और जीवार्थक भी।[20] रूद्र शब्द का दयानन्द प्रदत्त 'जीव' अर्थ बड़ा मौलिक है। यह स्वामी जी की सूक्ष्म मनीषा का ज्ञापक है। ईश्वरार्थक रूद्र शब्द का अर्थ है– रोदयत्यमित्रान्[21], रोदयत्यन्यायकारिणो जनान्[22] जीवार्थक व्युत्पत्ति स्वामी जी ने नहीं दी है। 'रूद्र' शब्द के जीव अर्थ का आधार अन्वेषणीय है।

5. प्रजापति : वैदिक वाङ्मय में ईश्वर को अनेक स्थानों में प्रजापति कहा गया है। प्रजापित का अर्थ बड़ा स्पष्ट है– प्रजा का पति अर्थात् स्वामी। स्वामी दयानन्द ने भी प्रजापति का अर्थ प्रजा का स्वामी करके परमेश्वर अर्थ किया है, किन्तु उन्होंने प्रजापति का अर्थ 'जीव' भी किया है– प्रजायाः पालको जीवः।[23] अर्थात् प्रजा का पालक जीव। यहाँ स्वामी जी को सामान्य अर्थ ही ईप्सित है।

6. देव : एक मन्त्र भाष्य में स्वामी जी ने 'देव' का अर्थ जीव भी किया है।[24] ईश्वरार्थक देव शब्द का अर्थ है– स्वयं प्रकाशस्वरूप। यही आधार 'जीव' अर्थ में भी दिखाई देता है, जीवात्मा भी स्वयं प्रकाश स्वरूप है। आचार्य यास्क ने देव की निरूक्ति दीपन और द्योतन हेतु से भी मानी है–देवो दानाद्दीपनाद्द्योतनाद् वा द्युः स्थानों भवतीति वा।[25] स्वामी जी ने 'देव' पद से ईश्वर का ग्रहण भी किया है, इन्द्रियों का ग्रहण भी और जीवात्मा का ग्रहण भी अभीष्ट है। यजुर्वेद में बहुवचनान्त 'विश्वे देवाः' पद भी पठित है। यहां भी देव शब्द को जीवार्थक भी स्वामी जी ने माना है।

'विश्वे देवाः' यह बहुवचनान्त पद ही प्रयुक्त होता है। यद्यपि दयानन्द यजुर्भाष्य में 'विश्वे देवाः का 'जीवाः' अर्थ सीधा नहीं है, प्रकारान्तर से यह अर्थ द्योतित होता है। विश्वदेव का ताद्धित रूप 'वैश्वदेवः यजुर्वेद में उपलब्ध है। स्वामी जी ने 'वैश्वदेवः' का अर्थ किया है– सब उत्तम जीव व पदार्थों से सम्बद्ध–विश्वेषां देवानां दिव्यानां जीवानां पदार्थानां वा यः

सम्बन्धी।[26] इस भाष्य वचन से यह स्पष्ट है कि स्वामी जी को 'विश्वदेव' शब्द का अर्थ 'सभी जीव' मान्य है। बहुवचनान्त 'विश्वे देवाः' से यह भी स्पष्ट है कि जीवात्माओं का आनन्त्य है।

9. क्रतु : दयानन्द दर्शन में जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है और फलभोग में परतन्त्र। कर्म ही फलभोग व्यवस्था में हेतु है। 'जीव' कर्म करने वाला है। इसका आधार भी यजुर्वेद के 'क्रतु' पद के व्याख्यान में उपलब्ध है। स्वामी जी ने क्रतु का अर्थ–जीव किया है। क्रतु का अर्थ है– करने वाला। जीव कर्म करता है, इसका ज्ञापक यह वैदिक प्रमाण है– यः करोति, (स) जीवः।[26]

10. लोक : 'लोक' शब्द पृथिव्यादि लोकों के लिए प्रसिद्ध है। स्वामी जी ने एक स्थान पर 'लोक' शब्द का अर्थ 'जीवात्मा' भी किया है।[28] लोक शब्द का 'जीव' अर्थ अन्य किन ग्रन्थों में उपलब्ध है, यह अन्वेषणीय है।

11. काम : निम्न मन्त्र में पांच बार 'काम' पद आया है, जिसका अर्थ स्वामी जी ने दो स्थलों में ईश्वर और तीन स्थलों में 'जीव' किया है–

को ऽदात्कस्मा अदात्कामोऽदात् कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत्ते।।[29]

मन्त्रार्थ यह है– (कः अदात्) कौन कर्मफल को देता है और (कस्मै अदात्) किसके लिए देता है। इन दो प्रश्नों के उत्तर हैं– (कामः) जिसकी कामना सब करते हैं, वह परमेश्वर (अदात्) देता और (कामाय) कामना करने वाले जीव को (अदात्) देता है। अब विवेक करते हैं कि (कामः) जिसकी योगीजन कामना करते हैं, वह परमेश्वर (दाता) देने वाला है (कामः) कामना करने वाला जीव (प्रतिगृहीता) लेने वाला है। हे (काम) कामना करने वाले जीव! (ते) तेरे लिए मैंने वेदों के द्वारा (एतत्) यह समस्त आज्ञा की है, ऐसा तूँ निश्चय करके जान।

निर्वचन शास्त्र के अधार पर स्वामी जी ने 'कामः' का अर्थ ईश्वर तथा जीव किया है।

1. कामः = ईश्वरः – काम्यते यः परमेश्वरः। यः काम्यते सर्वैर्योगिभिः स परमेश्वरः।
2. कामः = जीवः – कामाय कामयमानाय जीवाय। काम! कामयते असौ तस्सम्बुध्दौ।

काम की ये दो व्याख्याएँ स्वामी जी की प्रखर मनीषा की साक्षी हैं। 'काम' की इस जीवार्थक व्याख्या में इच्छादिगुणवत्ता निहित है, जिसकी स्फुट मीमांसा न्यायशास्त्र में विद्यमान है।

12. अधिपति : अधोलिखित मन्त्र का देवता 'आत्मा' है–

स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः। पृथिव्यै स्वाहा।[30]

स्वामी जी ने जीव को अधिपति कहा है– इन्द्रियादि के अधिपति जीव के साथ वर्तमान, जीवन के हेतु प्राणों के लिए स्वाहा।

कठोपनिषद् में शरीर को रथ और आत्मा को इस रथ का स्वामी 'रथी' कहा गया है– आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।[31] उपर्युक्त याजुष मन्त्र में भी यही अभिप्राय निहित है।

इस प्रकार स्वामी जी ने उपर्युक्त शब्दों का अन्वय जीवात्मा में किया है। वस्तुतः ये पद जीवात्मा के वाच्यार्थ अनादिस्वरूप स्वतन्त्र सत्ता के विशेषण हैं। इन विशेषणों के अध्ययन से आत्मा के स्वरूप का सामान्य परिज्ञान स्वतः हो जाता है। दयानन्द प्रदत्त इन जीवार्थक पदों के व्याख्यान का प्रमुख आधार निर्वचन शास्त्र है।

सन्दर्भ संकेत

1– ऋग्वेद– 1.164.4, अथर्ववेद– 9.9.4
2– यजुर्वेद– दयानन्दभाष्य–4.15
3– यजुर्वेद– दयानन्दभाष्य–7.28
4– वही– 7.28
5– ऋग्वेद–8.164.30
6– अथर्ववेद–8.1.15
7– यजुर्वेद दयानन्दभाष्य–2.32
8– द्र0–वही–3.55
9– द्र0–वही–32.1, 3.11
10– द्र0–वही–12.36–38
11– द्र0–वही–12.36
12– द्र0–वही–12.37
13– द्र0–वही–12.38
14– द्र0–वही–21.24,22.6,28.9,17
15– द्र0–वही–28.18
16– द्र0–वही–28.8
17– ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका–स्वामी दयानन्द, (वेदोत्पत्तिविषय)
18– यजुर्वेद– 25. 25
19– वही–20.7
20– द्र0–यजुर्वेद–दयानन्दभाष्य– 34.34, 38.16
21– तु0 वही– 3.58 : दुष्टानां रोदयिता परमेश्वरः ।
22– वही– 3.57
23– वही– 39.5
24– द्र0–वही 28.19
25– निरुक्त–यास्क– 7.4.15
26– यजुर्वेद–दयानन्द भाष्य –39.5
27– वही– 40.15
28– द्र0–वही– 34.55
29– यजुर्वेद– 7.48
30– वही– 39.1
31– कठोपनिषद् 1.3.3

• • •

सामवेदस्य निजमन्त्रेभ्यः इन्द्र देवता सप्तकम् (1)

इन्द्र देवता का स्वरूप दर्शाने वाले मन्त्र

-श्री मनोहर विद्यालंकार

(1) इन्द्र हमें सदा अपनाता है, हम ही उसकी ओर उन्मुख नहीं होते हैं–

सदा व इन्द्रश्चर्कृषदा उपोनु स सपर्यन् । न देवो वृतः शूर इन्द्रः ।। साम 196 ऋषिः वामदेवः । देवता–इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

शब्दार्थः–(सः इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली वह परमात्मा (सपर्यन्) पदार्थों को देकर हमारी सेवा करता हुआ सदा (वः आचर्कृषद्) हमें और आप को अपनी और आकृष्ट कर रहा है, किन्तु हमारे द्वारा ही (शूरः) सब वासनाओं और दुःखों का विनाशक (इन्द्रः देवः) परमैश्वर्य प्रदाता (न वृतः) वर रूप में स्वीकार नहीं किया गया है।

(2) परमेश्वर की थोड़ी सी स्तुति भी, स्तोता को बड़ा बना देती है–

कदु प्रचेत्तसे महे वचो देवाय शस्यते । तदिद् स्ह्यस्यवर्धनम् ।। साम 224 ऋषिः वामदेवः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

शब्दार्थः–(महे प्रचेत से देवाय) पूजनीय, प्रकृष्ट ज्ञानी देवाधिदेव के लिये (कत् 3) कितना थोड़ा ही (वचः शस्यते) स्तुति वचन कहा जाता है, (तत् इत्) उतना ही (अस्य वर्धनम् हि) निश्चय से स्रोता को बढ़ाने वाला होता है।

निष्कर्षः–शस्यते–शसि इच्छायाम; स्तुति जैसा बनने की इच्छा (प्रयत्न) से बढ़ोत्तरी होती है।

(3) परमेश्वर केवल स्तुतियों से नहीं, तदनुकूल आचरण से सखा बनता है।

इन्दु उक्थेभिर्मन्दिष्ठो वाजानांच वाजपतिः । हरिवान्त्सुतानां सखा ।।साम 226 ऋषिः–विश्वामित्रः) देवता–इन्द्रः । छन्दः–गायत्री ।

शब्दार्थः–(इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली च तथा (वाजानां वाजपतिः) सब प्रकार की समृद्धियों का स्वामी इन्द्र (उक्थेमिः) वेदमन्त्रों के अध्ययन और तदनुकूल आचरणों से (मन्दिष्ठः) अत्यन्त प्रसन्न होकर (सुतानां सखा) उत्पादनशील पुत्रों का सखा बन कर (हरिवान्) उन के सब दुःखों का हरण करने वाला बन जाता है।

अर्थपोषणः–उक्थम्– सामसाध्यंस्तोत्रमुक्थम् । 'उक्थ' का उपरिलिखित अर्थ क्यों? इस मन्त्र में परमेश्वर को सखा(= समानख्यान = जिन दोनों के गुण कर्म स्वभाव समान हों) कहा है। यह तभी संभव है, जब कोई साधक मन्त्रोक्त निर्देशों पर आचरण करें।

(4) परमेश्वर भक्तों को कष्टों से तराकर, पार लगा देता है

मेडिं न त्वा वज्रिणं भृष्टिमन्तं पुरूधस्मानं वृषभं स्थिरप्स्नुम् ।।

करोष्यर्यस्तरूषीर्दुवस्युरिन्द्र द्युक्षं वृत्रहणं गृणीषे ।। साम 329 ऋषिः वामदेवः । देवता–इन्द्रः । छन्दः त्रिष्दुप् ।

शब्दार्थः–हे (इन्द्र) परमैश्वर्यशालिन् । (दुवस्युः) काम क्रोधा दि शत्रुओं से परितप्त हुवा हुवा मैं (वृत्र हणम्) इन वृत्रों के हन्ता (द्युक्षम्) कर्तव्याकर्तव्य के प्रकाशप्रदाता (मे लिनं वज्रिणम्) वेदवाणी की तरह सदा प्रगतिप्रद (भृष्टिमन्तम्) पापों को भून डालने वाले, (पुरूधस्मानम्) बहुतों के धारण कर्त्ता (स्थिरप्स्नु)सदा एक रूप (वृषभम्) सब पर सुखों की वर्षा करने वाले (त्वा गृणीषे) तेरी स्तुति करता हूँ क्योंकि तू (अर्यः) ब्रह्माण्ड का स्वामी होने से (अर्यः अरीः) अपनी सम्पूर्ण प्रजाओं को, पापों और विघ्नों से (तरूषीः करोषि) लड़कर उन्हें तर जाने में समर्थ बना देते हो ।

अर्यः–ईश्वरनाम । नि0 2–22, अर्यः = अरीः प्रजाओं को मेडिम्–वाङ्नाम, नि01/11 दुवस्युः–दुवस् परितापसंचरणयोः । परितृप्त होकर उसके निवारण के लिये परिचर्या करने वाला ।

(5) ऐश्वर्यशाली इन्द्र को अपने आयोजनों में सभी बुलाते हैं

यं वृत्रेषु क्षितयः स्पर्धमाना यं युक्तेषु तुरयन्तो हवन्ते ।

यं शूरसातौ यमपामुपज्मन् यं विप्रासो वाजयन्ते स इन्द्रः ।। साम0 339

ऋषिः वाम देवः । देवता इन्द्रः । छन्द त्रिष्टुप् ।

शब्दार्थः–(1) (वृत्रेषु) काम क्रोधा दिका आवरण डालने वाले आध्यात्मिक और नैतिक युद्धों मे अथवा धन कमाने की स्पर्धाओं में (क्षितयः स्पर्धमानाः) स्पर्धा करने वाले साधक या मानव (यम् हवन्ते) जिसे सहायता के लिये स्मरण करते और पुकारते हैं (2) (युक्तेषुतुरयन्तः) योग युक्त योगियों में अथवा बड़े–बड़े आयोजनों में तुरन्त कार्य सिद्धि चाहने वाले (यं हवन्ते) जिसे पुकारते हैं– सहायता के लिये, (3) (शूरसातौ) संग्रामों में योद्धा जिसे सहायता के लिये स्मरण करते और पुकारते हैं, (4) (अपां उपज्मन्) जलों और उपज की प्राप्ति के निमित्तकिसान (विश्वनाथ) और प्राणों को ऊपर ले ऊपर ले चक्र में संक्रमण के लिये प्राण साधक (रामनाथ) (5) (विप्रासः) किसी भी क्षेत्र में विशेष रूप से पूरण चाहने वाले जन (यं वाजयन्ते) जिस की अर्चना करते हैं (सः इन्द्रः) वह परमैश्वर्यशाली परमात्मा है । अथवा ऐसा व्यक्ति प्रधान पद पर बैठाने योग्य होता है ।

(6) यहां इन्द्र से अभिप्राय है 'ब्रह्म' जिसके परमेश्वर और वेद दोनों अर्थ हैं

सुमन्मा वस्वी रन्ती सूनरी।। साम0 1654

ऋषिः शुनः शेषः आजीगर्तिः। देवता–इन्द्रः–छन्दः – एकपदा पङ्क्तिः।

शब्दार्थः– (1) (इन्द्रः) परमेश्वर माता रूप में (सुमन्मा) उत्तम ज्ञान विसानों से पूर्ण तथा प्रदाता (वस्वी) निवास के योग्य सब वसुओं (वस्तुओं) का स्वामी तथा यथायोग्य प्रदाता (रन्ती) सबको कर्मानुसार रमण कराने वाला (सूनरी) उत्तम वाणियों द्वारा सन्मार्ग पर ले जाने वाला है। (2) परमेश्वर की अनिर्वचनीय शक्ति तथा अव्यक्तवाणी (निष्यावचांसि) (सुमन्मा) उत्तम ज्ञान देने वाली (वस्वी) जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक परिस्थितियों और पदार्थों की प्राप्ति का ज्ञान देने वाली, (रन्ती) रमण साधनों का निर्देश करने वाली तथा (सूनरी) उत्तम मार्ग प्रदर्शिका है।

(7) इन्द्र कण कण में व्याप्त है, अतः अपने शीर्षस्थ केन्द्रों को सदा पवित्र रक्खो–

नीव शीर्षाणि मृढ्वंग मध्य आपस्य तिष्ठति। शृंगेभिर्दशभिर्दिशन्।। साम0 1656

ऋषिः,–शुनः शेप आजीगर्तिः। देवता–इन्द्रः। छन्द–गायत्री।

शब्दार्थः– (इन्द्रः) परमेश्वर (दशमिः शृंगेभिः) शृंगवत् प्रमुख पांच महाभूतों और पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा (इ) अनुकम्पा कर के अव्यक्त रूप में, सत् असत् के भेद का (दिशन्) संकेत करता हुआ (आपस्य मध्ये)। व्याप्य ब्रह्माण्ड के कण–कण के अन्दर (तिष्ठति) स्थित–व्याप्त है। अतः (शुनः शेपः) सुख की कामना से विषयों को भोगता हुआ (आजीगर्तिः) गर्त में गिरने के अनन्तर, अपने अनुभव के आधार पर उपासकों और साधकों को (दिशन्) निर्द्वेश करते हुए कहता है कि आप लोग (शीर्षाणि) अपने मस्तिक स्थित ज्ञान केन्द्रों को (निमृद्म्) शुद्ध पवित्र रक्खो, मेरी तरह पथभ्रष्ट होकर गर्त में गत गिरो; इस निर्देश के द्वारा वह स्वयं भी आत्म संबोधन प्राप्त करता है।

अर्थ पोषण– इ. भेद, रूषोक्ति, अनुकम्पा, अपाकरणेषु। व साम्येऽर्थे। वेदाङ्गप्रकाशेऽव्ययार्थः। नीव–नि+इ+व। नि = अन्दर से मृढ्वम्–'मृजूष् शुद्धौ' अपने को शुद्ध करो। न साम्येऽर्थे; इन्द्रियों के विषय प्रमुखता से सामने आते हैं, किन्तु उनमें लिप्त होने से वे सींगों की तरह पीड़ा पहुँचाते हैं, यदि उन से अलिप्त रहें, तो वे सींगो की तरह शोभा में वृद्धि और पापों से रक्षा करते हैं।

• • •

सामवेदस्य निजमन्त्रेभ्यः इन्द्र देवता सप्तकम (2)

इन्द्र देवता से प्रार्थना मन्त्र

- श्री मनोहर विद्यालंकार

(1) हे शूर ! हमें प्रेरणा दो कि हम तेरे समानख्यान साधकों की संगति व अनुगमन करें

अरं त इन्द्र शवसे गमेम शूर त्वावतः । अरं शक्र परेमणि ।। साम0 209

ऋषिः—वामदेवः । देवता—इन्द्रः । छन्द—गायत्री ।

शब्दार्थः— (शूर इन्द्र) वासनाओं, और दुःखों का हिंसन करने वाले ऐश्वर्यमय प्रभो ! (ते श्रवसे) आपके ज्ञानश्रवण और यशोगान के लिए (त्वावतः) आपके समानख्यान सखा (ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति) के पास (अरंगमेम) प्रायः जाते रहें। हे (शक्र) सर्वशक्तिमान् प्रभो ! ऐसी प्रेरणा करो कि हम (परेमणि अरं गमेम) उत्कृष्ट मार्ग पर अथवा पराविद्या की प्राप्ति के मार्ग पर प्रायः चलते रहें।

शूरः—शृ हिंसायाम् । शक्रः—शक्नोति कर्तुं यदीप्सितम्—सर्वशक्तिमान् ।

(2) हे इन्द्र ! हमारे शरीर के कोशों में पुरूषार्थ और पवित्रता स्थापित करो

ऐन्द्र पृक्षुकासुचिन्नृम्णं तनूषु धेहिनः । सत्राजिदुग्र पौंस्यम् ।। साम0 231

ऋषिः—विश्वामित्रो गाथिनोऽभीपाद उदलो वा । देवता—इन्द्रः । छन्दः—गायत्री

शब्दार्थः— हे (इन्द्र) परमैश्वर्यशालिन् प्रभो ! (नः) हमारे (पृक्षु तनूषु) संम्पृक्त स्थूल, सूक्ष्म, और कारण शरीरों में (कासुचित्) जिनमें कोई कमी आ गई हो उन में (नृम्णं आ धेहि) बल का आधान कीजिये। हे (सत्राजित्) सदाजयी और सत्यजयी (उग्र) सज्जनों के लिए उदार, और दुर्जनों के लिए उग्र प्रभो। (नः तनूषु) हमारे पांचों कोशों और सभी इन्द्रियों में (पौंस्यम्) बल, पुरूषार्थ और पवित्रता का (आधेहि) आधान कीजिये। पृक्षु—पृचीसंपके। सत्रा—सत्यनाम, नि03—10,सदा। पौंस्यम्—बलनाम्, नि0 2—9 पूज्पवने।

(3) प्रार्थना – हे इन्द्र हमारी प्रार्थना सुन। उत्तर—जितेन्द्रिय बन, और स्तोत्र के अनुरूप आचरण कर—

इम इन्द्र मदाय ते सोमाश्चिकित्र उक्थिनः ।

मधोःपपान उप नो गिरः श्रृणु रास्व स्तोत्राय गिर्वणः ।। साम0 294

ऋषिः—वामदेवः । देवता— इन्द्रः । छन्दः—बृहती

शब्दार्थः– हे (इन्द्रः) परमैश्वर्य शालिन् प्रभो ! (इमे उक्थिनः सोमाः) ये साम स्तोत्रों द्वारा प्रस्तुत भक्तिरस (तेमदाय) तेरी प्रसन्नता के लिये, और (इमे सोमाः) ये ओषधिरस स्थूल शरीर के लिए, प्रस्तुत हैं तथा (इमे सोमाः) ये रेतः कण पञ्चकोशों के (चिकित्र) रोगापनयन के लिए रक्षित किये गये हैं, हे (गिर्वणः) वेदवाणियों द्वारा भजने तथा प्रार्थना करने योग्य प्रभो ! (मधोः पपानः) मधुर भक्तिरस का पान करते हुवे (नः गिरः श्रुणु) हमारी स्तुतिवाणियों को सुन, और (स्तोंत्राय रास्व) मुझस्तुति कर्ता को मेरे अभीष्ट प्रदान कर। इस पर प्रभु कहतें हैं– हे स्तुतिकर्त्ता साधक (नः गिरः श्रृणु) मेरे द्वारा प्रस्तुत वेदवाणियों को सुन और (स्तोत्राय रास्व) अपने स्तोत्र के अनुरूप जीवन यापन कर। चिकित्रे– कित निवासे रोगापनयने च। रास्व–रासन् गमने। आख्यातानुक्रम0 सोमाश्चितः–सोमः। कौ0 13–9, सोम रूपं यन्मध्र शत 12–8–2–15,

(4) हे परमेश्वर ! अव्रती और क्रियाविहीन को पदच्युत कर दे।

यदिन्द्र शासो अव्रतं च्यावया सदसस्परि।

अस्माकमंशुं मघवन्पुरूस्पृहं वसव्ये अधिबर्हय।।साम0 298

ऋषिः– वामदेवः। देवता– इन्द्रः। छन्दः बृहती।

शब्दार्थः– हे (इन्द्रः) परमेश्वर या राजन् ! (यत्) क्योंकि आप शासः शासक हैं, अतः (अव्रतम्) व्रतशून्य या कर्मविहीन मनुष्यों को सदसः परिच्यावय सज्जन समाज से पूरी तरह से च्युत = निष्कासित कर दीजिये। हे (मघवन्) सब प्रकार के धनों के स्वामिन् ! (वसव्ये) बसने योग्य (अस्माकम्) हमारे हृदय में (पुरूस्पृहम्) बहुत चाहे गये (अंशुम्) ज्ञान के अंश को, और जीवन के लिये अनिवर्य धन के अंश को (अधिबर्हय) बढ़ाइये और श्रेष्ठ बनाइये।

राजा पक्ष में– (अंशुम) कर रूप में प्राप्त धन को (वसव्येअधि) राष्ट्र हित के कार्यों में (बर्हय) व्यय की जिये। (प्रो0 रामनाथ सामभाष्य में)

(5) हे इन्द्र ! तेरे द्वाराक्षित और प्रेरित होकर हम अपने शत्रु को परास्त कर दें

यो ना बनुष्यन्नभिदाति मर्त उगणा वा मन्यमानस्तुरो वा।

क्षिधी युधा शवसावा तमिन्द्राभिष्याम वृषमणस्त्वोताः।। साम0 336

ऋषिः–वामदेवः। देवता–इन्द्रः। छन्दः–त्रिष्टुप्।

शब्दार्थः– (यः मर्तः) जो मनुष्य (वनुष्यन्) क्रोध करता हुआ (उगणाः) अपने अन्य मित्रगणों से युक्त होकर (मन्यमानः) अभिमान करता हुआ (तुरःवा) शीघ्र मित्रगणों से युक्त होकर (मान्यमानः) अभिमान करता हुआ (तुरःवा) शीघ्र ही हनन करने में समर्थ मानकर (नः अभिदाति) हमारी जड़ काटना चाहता

है, (तम्) उसे हे (इन्द्र) शत्रुविदारक प्रभो ! (क्षिधि) क्षीण कर दें—हताश कर दें। हे (वृषमणः) सुखवर्षी स्वभाव वाले ! (त्वोताः) आप द्वारा रक्षित और उत्साहित (वृषमणः) शक्तिशाली मनों वाले हम (युधा) युद्ध में (शवसा) अपने सामर्थ्य से (तं अभिष्याम) उस क्रोधी व अभिमानी मनुष्य को परास्त कर दें।

(6) आपका ध्यान कर के, आप से प्राप्त राय को स्पष्ट करते हुवे जीवित रहें—

उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्तः पुष्येम रयिं धीमहे त इन्द्र ।।साम 444—1115

ऋषिः—वामदेवः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—द्विपदा पङ्क्ति।

शब्दार्थः— हे (इन्द्र) ऐश्वर्य शालिन् प्रभो ! (ते) तेरे द्वारा प्रदत्त (मधुमतिप्रक्षे) मधुवत् मधुर शरीर में, तथा मधुर आनन्द के झरने (मन) में (क्षियन्तः) निवास करते हुवे, (ते धीम हे) तुझे धारण करते है— तेरा ध्यान करते हैं,; परिणाम स्वरूप ते रयिं पुष्येम्) तेरे द्वारा प्रदत्त रयि = (आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। अथर्व 19—71) को पुष्ट करते हुवे, अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

(7) हमें सहः, ओज, क्रतु ओर वाज देकर शत्रुओं का पराभवकर्ता बनाइये

सहस्तन्न इन्द्र दद्धिः ओज ईशे ह्यस्य महतो विरप्शिन्।

क्रतुंन नृम्णं स्थविरं च वाजं वृत्रेषु शत्रून्त्सहना कृधी नः।। साम0 625

ऋषिः—वामदेवः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्।

शब्दार्थः— हे (विरप्शिन्) महामहिम (इन्द्र) परमैश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो ! (नः) हमें (तत्) वह चाहने योग्य (सहः) दुःखों को सहन करने योग्य बनाने वाली सहनशक्ति तथा शत्रुओं को पराजित करने वाला बल (दद्धि) प्रदान करो, (हि) क्योंकि आप (अस्य महतः) इस महान् सहन सामर्थ्य और बल के (ईशे) अधीश्वर हैं। इस के साथ (क्रतुम्) संकल्प के अनुरूप प्रज्ञा (न) और (नृम्णम्) बल, अथवा (क्रतुंन नृम्णम्) पुरूषार्थ के अनुरूप धन (स्थविरं च वाजम्) और प्रचुर अन्न तथा ऐश्वर्य (दद्धि) प्रदान कीजिये। (वृत्रेषु) शत्रुओं के विषय में अथवा अज्ञानान्धकार के आवरण होने पर (नः) हमें (शत्रून् सहना कृधि) इन शत्रुओं को पराभूत करने वाला बनाइये।

विरप्शी—महन्नाम। नि. 3—3. नृम्णम्—धनम्। नि. 2—10

सहः—सहनशक्तिसहमर्षणे। सहः बलम्, नि.2—9, सहना=सहमानः विजेता सूर्यकान्त।

वाजः — अन्ननाम, नि. 2—9; वाजः बलनाम, नि0 2—9. वाजः—ऐश्वर्य श्री अरविन्द।

वृत्रः—शत्रुः श्री अरविन्द ऋक् 10—69—12. क्रतुः संकल्प (**will**) श्री अरविन्द.

● ● ●

नाट्यशास्त्र का स्वरूप व उत्पत्ति

– डॉ० अर्चना भार्गव

आचार्य भरत का नाम भारतीय नाट्य–शास्त्र के आदि प्रणेता के रूप में लोक–विश्रुत है। ललित–कलाओं के विश्वकोष इस ग्रन्थ ने भारत की उदात्त कला चेतना को अनुप्राणित किया है। इसी कारण शास्त्रकारों ने नाट्यशास्त्र को नाद्यवेद तथ इसके प्रणेता भरताचार्य को मुनि के रूप में आदर से स्मरण किया। वे न केवल नाट्य और रंगमंच के आदि आचार्य हैं अपितु काव्यशास्त्र के भी प्रथम उद्घोषक है। भारतीय नाट्यकला पर विचार करते समय नाट्यशास्त्र पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। भारत में काव्यशास्त्रीय चिन्तन का प्रारम्भ नाट्यशास्त्र में प्राप्त होने वाले एतद्विषयक विवेचन से ही माना जाता है। इस अनूठे ग्रन्थ में नाट्य–विषयक विवरण जितनी समग्रता के साथ प्रस्तुत हुआ है वह किसी प्राचीन भारतीय ग्रन्थ में तो दुर्लभ है ही बल्कि तत्कालीन संसार के किसी अन्य ग्रन्थ में भी प्राप्त नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि काव्य–शास्त्र और नाट्य–शास्त्र एक दूसरे के इतने अधिक निकट है कि उन्हें एक–दूसरे से अलग करना सर्वथा कठिन है।

भरत ने नाट्यशास्त्र के रूप में साहित्य को एक बहुत बड़ी देन दी है। इसके अन्तर्गत नाट्य की रचना तथा प्रयोग से सम्बन्धित अनेक विषयों का बृहद् वर्णन प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र में नाट्य का स्वरूप हमें निम्न पंक्ति से स्पष्ट हो जाता है–

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।

अर्थात इस नाट्य में त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन होता है और भरत ने यह भी बताया है कि यह अनेक भावों से समन्वित, विभिन्न अवस्थाओं वाला तथा लोकव्यवहार का अनुकरण करने वाला होता है।

नाट्यशास्त्र के अध्यायों को लेकर विद्वानों में कुछ मतभेद हैं। नाट्यशास्त्र का प्रथम संस्करण जो काव्यमाला सीरीज बम्बई से 1894 ई0 में निकला था, इसमें कुल सैंतीस अध्याय थे। इसके अतिरिक्त वहीं से प्रकाशित 1943 ई0 वाले संस्करण में कुल छत्तीस ही अध्याय थे। इसी प्रकार अन्य कई संस्करणों में भी कुल छत्तीस अध्याय ही मिलते हैं। शारदातनय तथा इसके उत्तरवर्ती अनेक शास्त्रकारों ने भी नाट्यशास्त्र के दो संस्करणों या पाठों का उल्लेख किया है। भरत का नाम प्राचीन ग्रन्थों में भरत के परवर्ती ग्रन्थों में दो प्रकार से मिलता है– एक वृद्धभरत या आदिभरत, दूसरे केवल भरत। नाट्यशास्त्र के विषय में भी कहा जाता है कि नाट्यशास्त्र के दो ग्रन्थ मिलते हैं, एक नाट्यवेदागम दूसरा नाट्यशास्त्र।

पहला ग्रन्थ द्वादशसाहस्त्री और दूसरा ग्रन्थ षटसाहस्त्री कहलाता है। भावप्रकाश में शारदातनय ने बतलाया है कि "षट्–साहस्त्री" प्रथम ग्रन्थ का ही संक्षिप्त रूप था।

भरत के नाट्यशास्त्र में अध्यायों को लेकर जो मतभेद हैं उसमें मुख्य मतभेद एक अध्याय के अन्तर से ही सम्बन्धित है और वह विवाद अन्तिम अध्याय के विषय में ही है। जिन संस्करणों में 36 अध्याय हैं उनके छत्तीसवें अध्याय में नाट्य के भूलोक में अवतरण का कारण तथा नहुष के प्रयत्न से नाट्य के धरती पर आने का वर्णन है और जिस संस्करण में 37 अध्याय है उसमें पूर्वोक्त दोनों प्रसंग अलग–अलग अध्यायों में कर देने से एक अध्याय बढ़ गया है। अर्थात् इसके छत्तीसवें अध्याय में केवल नाट्य के भूलोक पर अवतरण का कारण दिया गया है, और नहुष वाला प्रसंग 37वें अध्याय में कर दिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों संस्करणों के पाठ में अन्तर न होकर अध्याय की संख्या में अन्तर है।

नाट्यशास्त्र के काल का विवेचन करते हुए विद्वानों में कई मतभेद है। प्रो0 मैकडानल ने नाट्यशास्त्र का रचना–काल ईसा की छठवीं शताब्दी तथा कीथ ने तीसरी शताब्दी माना है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में एक स्थान पर स्पष्ट रूप से भरत का निर्देश मिलता है। कालिदास के समय भरत अत्यधिक प्रसिद्ध हो चुके थे। चूँकि कालिदास का समय अधिकतर विद्वान् लगभग चौथी शताब्दी (ईसवी) का मानते हैं। इससे यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि भरत के नाट्य–शास्त्र का रचनाकाल ईसा की दूसरी या तीसरी शती रहा होगा। कर्नल श्री जैकबी ने नाट्यशास्त्र की प्राकृतभाषा के अंशों का विश्लेषण करते हुए नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसा की तीसरी शती निर्धारित किया है। श्री प्रो0 सिल्वा लेवी ने नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त कुछ शब्दों के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय ईसवी दूसरी शती के स्थितिकाल के आस–पास का माना है। श्री मनमोहन घोष ने भी नाट्यशास्त्र के कालिदास, भास तथा कौटिल्य का पूर्ववर्ती सिद्ध किया है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार के मत के अनुसार नाट्यशास्त्र का स्थितिकाल वैदिककाल के पश्चात् तथा पुराणकाल के पूर्व है।

"नाट्यशास्त्र" के काल निर्धारण में प्रायः प्रत्येक विद्वान् ने कठिनाई का अनुभव किया है। इन सभी निष्कर्षों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि ईसा से पाँच शती पूर्व नाट्यशास्त्र का ऐसा रूप लोकप्रसिद्धि अर्जित कर चुका था जिसमें भाव, रस, प्रेक्षागृह, नाट्याभिनय, रूपक के भेद आदि का विवरण था तथा जिसकी जानकारी भास, अश्वघोष तथा कालिदास जैसे नाट्यकारों को थी। नाट्यशास्त्र में ऐन्द्र व्याकरण तथा यास्क के उद्धरण हैं किन्तु पाणिनी के नहीं। अतएव पाणिनी के तीन सौ वर्ष पश्चात् नाट्यशास्त्र का रचनाकाल माना जाए तो यह प्रमाणिकता के अधिक समीप होगा जो निश्चित रूप से ईसा से पाँच शती पूर्ववर्ती है।

नाट्य की उत्पत्ति

नाट्य की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों ने भिन्न–भिन्न धारणायें उपस्थित की हैं। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सर्वसुख सम्पन्न स्वर्णयुग को इस प्रकार के मनोरंजन की आवश्यकता नहीं थी इसलिये नाट्य विकास त्रेतायुग में प्रारम्भ हुआ। अब प्रश्न यह है कि इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई ? भारतीय परम्परा के अनुसार सर्वसम्मत उपलब्ध प्रमाण नाट्यशास्त्र ही है।

नाट्यशास्त्र में भरत ने एक कथा का वर्णन किया है जिसका सार इस प्रकार है–

त्रेतायुग में देवताओं ने ब्रह्मा से आकर निवेदन किया कि–

1. वेद आदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णो के लिए निश्चित है जिस कारण सर्वजन सुलभ नहीं है।
2. पाप का आधिक्य हो जाने के कारण आप पुण्य के लिये उपदेश दीजिए।
3. तथा, ऐसे मनो–विनोद की सृष्टि की जाये जो देखने और श्रवण करने के योग्य हो।

अतः इस प्रकार दिया गया उपदेश अधिक प्रभावकारी होगा।

तत्पश्चात् भगवान् ब्रह्मा ने चारों वेदों का स्मरण करते हुए "नाट्य" नामक पंचम वेद की रचना की।

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।

अर्थात् ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य तत्त्व, सामवेद से गीत तत्त्व, यजुर्वेद से अभिनय तत्त्व और अथर्ववेद से रसों का संग्रह करते हुए इन चारों के आधार पर ही पंचम वेद नाट्यवेद की रचना की। ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्यतत्त्व का ग्रहण इसलिये किया, क्योंकि ऋग्वेद में पाठ होता है। सामवेद में गान के सातों स्वर हैं इसलिये सामवेद से गीत तत्त्व को लिया। यजुर्वेद में कर्मकाण्ड की प्रधानता होने से सारे क्रिया–कलाप हैं इसलिये यजुर्वेद से अभिनय तत्त्व को लिया तथा अथर्ववेद से रस को ग्रहण किया। वैसे अथर्ववेद में रस नहीं है पर चूँकि अथर्ववेद में अलौकिकता का वर्णन है। इसलिये कहा जा सकता है कि रस का ग्रहण अथर्ववेद से किया। इस पंचम वेद में और वेदों की अपेक्षा सर्वाङ्गपूर्णता भी अधिक है।

तदनन्तर ब्रह्मा ने विश्वकर्मा (देवताओं के वास्तुकार) को नाट्यगृह बनाने का आदेश दिया तथा भरत को इस कला की शिक्षा देने को कहा। इस नाट्यकला की शिक्षा देने के लिए ब्रह्मा ने भरत को सौ पुत्र और सौ अप्सरायें भी दी और इस नाट्य में शिव ने ताण्डव नृत्य तथा पार्वती ने लास्य नृत्य उपहार में दिया। इस प्रकार इस दिव्य नाट्य वेद को नाट्य–शास्त्र के रूप में भूतल पर विकसित करने का कार्य भरत को करना पड़ा। इस नाट्यशास्त्र की रचना

को देखने से एक वास्तविकता की पुष्टि अवश्य होने लगती है कि भरत के नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व भी अनेक प्रकार के नाट्यों का निर्माण हो चुका था जो पूर्वरूप से उपलब्ध नहीं है। इसीलिये भारतीय परम्परा नाट्य को वैदिक उत्पत्ति से युक्त मानती है।

उपर्युक्त मत से सम्बन्धित मत इस प्रकार है-- वेद के संवादों में नाटकीय तत्त्व--ऋग्वेद में लगभग पन्द्रह सूक्त ऐसे हैं जिनमें संवाद का तत्त्व पाया जाता है। जैसे--यमयमी संवाद, शर्मापाणि संवाद इत्यादि। इन संवादों के आधार पर मैक्समूलर ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि इन संवादों का पाठ यज्ञों के अवसर पर दोनों दलों के द्वारा अभिनय के ढंग से किया जाता रहा होगा। इस मत से प्रो0 सिल्वाँ लेवी, हर्नेल आदि विद्वान् भी सहमत है। किन्तु ए.बी. कीथ का कहना है कि वे संवाद नाटकीय तत्त्व से युक्त नहीं अपितु पौरोहित्य कर्ममात्र होते थे जिसमें अनुकरण की भावना का अभाव था। इस प्रकार कुछ अन्य विद्वानों ने भी उपर्युक्त मत का खण्डन कीथ की तरह ही किया है। फिर भी यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि वेदों में नाटकीय तत्त्व न होने पर भी नाटकीय उपादान अवश्य है।

वैदिक कर्मकाण्ड में नाट्यतत्त्व-- प्रोफेसर कोनो, प्रोफेसर ओल्डेनबर्ग आदि विद्वानों का मत है कि वैदिक कर्मकाण्ड में नाटक के बीज निहित थे। किन्तु जब तक ऋग्वेद के सूक्तों में हमें यथार्थ रूपक नहीं मिल जाता तब तक वैदिक युग में नाटकीय तत्त्व की घोषणा करने के लिए हमारे समग्र कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

मैक्डोनल का मत है कि नाच से नाट्य की उत्पत्ति हुई, किन्तु यह मत ठीक नहीं, क्योंकि संस्कृत में नट् और नृत् दोनों धातु भिन्न--भिन्न है और नाट्य, नृत्य तथा नृत इन तीनों शब्दों का अर्थ भी अलग--अलग है।

प्रो0 पिशेल ने कहा है कि पुतली नाच से उत्पत्ति हुई, किन्तु इस मत का खण्डन "रिजवे" ने कर दिया है कि सूत्रधार शब्द के बल पर पुतलियों से नाट्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त अत्यन्त अप्रामाणिक है। कुछ विद्वान् छाया नाटक से, इन्द्रध्वजोत्सव से, यूनानी नाट्य से भारतीय नाट्य की उत्पत्ति मानते हैं किन्तु इन सभी मतों का खण्डन कर दिया गया है।

इस प्रकार उपलब्ध नाट्यशास्त्र के आधार पर उपर्युक्त प्रथम मत ही तर्कसगत प्रतीत होता है। अतः निष्कर्ष यही है कि लोगों की कुशल बुद्धि का परिचायक होने के लिए गीत, वाद्य, नृत्य और अभिनय के संयोग से मनोरंजन और उपदेश के उद्देश्य हेतु विशेष अवसरों पर प्रयोग करने के लिए नाट्य की उत्पत्ति हुई।

सी-- 22 37, इन्दिरा नगर,
लखनऊ--226016

● ● ●

सच्चे ब्राह्मण का सात्विक बल

(अथर्ववेद काण्ड 5, सूक्त 18 का भावानुवाद)

–श्री महावीर 'नीर' विद्यालंकार
(विद्यालय –विभाग)
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

'ब्रह्म' नाम प्रभु का वेदों में, 'गौ' रुप उसकी वाणी।
जो उस वाणी का ज्ञाता है, कहलाता ब्रह्म का ज्ञानी।।
'यज्ञ' कराना, करना जिसके, जीवन का व्रत होता है।
पढ़ना और पढ़ाना जिसको, सदा–सदा से भाता है।।
ऐसे लक्षण वाला मानव, ब्राह्मण–रुप कहाता है।
सत्य–धर्म के पालन में वह, सर्वमेघ कर जाता है।।
सीधा–सादा सरल चित्त का, ब्राह्मण सबका प्यारा है।
जो उसकी हिंसा करता है,दुष्ट, महा हत्यारा है।।
बड़े–बड़े अत्याचारी भी, ब्राह्मण की वाणी आगे।
अपना मस्तक झुका रहे है, उसके भव्य तेज आगे।।
कहने को वह दीन–हीन सा, दिखता अरे, बेचारा है।
देखो, उसके अन्तर्मन में, दहक रहा अंगारा है।।
जब उसकी वाणी का 'तीखा', बाण दुष्ट पर चलता है।
'ब्रह्मनिष्ठ', ब्राह्मण के आगे, 'शासक' पानी भरता है।।
वेद–ऋचायें उसके गुणका, तुमुल घोष करती सारी।
ब्राह्मण की वाणी पर सचमुच टीकी हुई धरती सारी।।
दिव्य–भावना सदा हिलोरे लेती है उसके मन में।
बिना मुकुट का शासक है वह, बसता जन–जन के मन में।।
सच्चा ब्राह्मण रत्न–राष्ट्र का, उसकी अनुपम है वाणी।
उसका मोल भाव जो करता, वह मूरख है अज्ञानी।।
वह ब्राह्मण है लोकपति भी 'ब्रह्मन्' उसके 'गण' सारे।
सदा ब्राह्मणी अमर जगत में, जो जन–जन को है धारे।।
ब्रह्मतेज जिसकी रग–रग में, सदा हिलोरे लेता है।
ऐसे 'नर–नाहर' ब्राह्मण से, दुष्ट दहलता रहता है।।

आओ, उसको नमन करे हम, वही ज्येष्ठ है 'वर्णों' में।
आदेशों में बंधे हुए हम, लगे हुए निज कर्मों में।।
जीवन में जितने 'कर्म-काण्ड' सबका कर्ता उसको जानो।
'षोड़श-संस्कार' विधाता वह, ब्राह्मण को तुच्छ न तुम जानो।।
यह 'यज्ञ-भावना' जो जग में, यत्किंचिद् दीख रही सबको।
यह उसके तप की सिद्धि है, जो ज्ञान-सुधा देती हमको।।
ये काल कोठरी, कठोर दण्ड, ब्राह्मण से भय सब खाते है।।
कष्टो की प्रचण्ड तपस्या से, जीवन कुन्दन बन जाते है।।
ये ब्राह्मण देखो 'युगाधार', ये राज्य-तन्त्र के सूत्रधार।
इनसे संचालित नव विधान, इन पर न्यौच्छावर रत्नसार।।
ये तपः पूत, ये वीतराग, ये विषपायी है जन्मजात।
ये 'भीषण' 'दावानल' समान, ये मनवीणा की मृदुल तान।।
ये शान्त रूप, ये सोमदेव, ये क्रान्तिदूत, ये महाकाल।
ये प्रलय रूप, ये प्रचण्ड ताप, ब्राह्मण विप्लव की अग्नि ज्वाल।।
ये धर्मवीर, ये कर्मवीर ये क्रान्तिवीर, ये विप्रवीर।
ये राष्ट्रवीर, ये विजयीवीर, ये जलनिधि से गम्भीर धीर।।
ये ब्राह्मण हैं निष्काम-काम, इनका जीवन कितना ललाम।
ये छल-छन्दों से बहुत दूर, इनसे घबराते कुटिल, क्रूर।।
इनकी वाणी में गहन-शक्ति, इनके मानस में ईश-भक्ति।
ये दया -क्षमा के देव-दूत, ये राष्ट्र-धर्म के अग्र-दूत।।
इनको तुम क्यों दुत्कार रहे, इनका कर क्यों अपमान रहे।
ये कष्ट-साधना में लिपटे, बन अग्नि के अंगार रहे।।
ये डरे-डरे, जब दबे-दबे, ब्राह्मण अंगडाई लेते हैं।
तब अद्भुत खेल यहाँ होता, अभिमानी सिर को धुनते हैं।।
ये सीधे-सादे, सरल चित्त, ब्राह्मण तुम से क्या लेते हैं।
ओरों को सुख पहुँचाने हित, अपना सब कुछ दे देते हैं।।
इनके आँसू अनमोल रत्न, यदि बिखर धरा पर जायेंगे।
ये दुःखी-हृदय के अश्रु-बाण, सत्ता को भी डस जायेंगे।।
सात्विक जीवन का तप ही तो, ब्राह्मण का 'वर्चस' होता है।
यह हाथ पसारे खड़ा आज, सोचो, ऐसा क्यों होता है।।
यें नहीं किसी से कुछ मांगे, सबको सत्पथ बतलाते हैं।

इनकी पीड़ा को समझो तुम, ये कहकर भी नहीं कहते हैं।।
मत छेड़ो इनके सुप्तभाव, मत इनका तुम अपमान करो।
ये 'विप्लव की झंकार' अरे, इनके 'तप' का सम्मान करो।।
ये नम्र तरू के फलों समान, ये मधुर–नीर से भरे मेघ।
ये करते सुरभित घर आंगन, ये अति उदार व सदा नेक।।
इसलिए 'ब्रह्म' का तिरस्कार, जब कोई घमण्डी करता है।
बस समझो उसका सभी तेज, ब्राह्मण खुद ही पी जाता है।।
ये ज्ञान वृद्ध, ये मान वृद्ध, ये दयासिंधु ये अति उदार।
ये विश्व बंधु, ये दीनबंधु, ब्राह्मण जनता के हृदय हार।।
अपमान–मान की भट्टी में, तपने जब लगते सद्विचार।
ब्राह्मण के 'तप' की भस्मी से, हो जाते नष्ट सब दुर्विचार।।
इनकी वाणी में अमित तेज, ये ज्येष्ठ ब्रह्म के वरद पुत्र।
ये विश्वचरित् के उन्नायक, जग ने इनसे ही पढ़े मन्त्र।।
ये मननशील, संघर्षशील, ये कमल–पत्र है पंक–बीच।
इन पर सबकी है दृष्टि टीकी, ये मानवता के अमर बीज।।
यें समता–ममता के मूल–मन्त्र, इनसे उद्भाषित वेद–मन्त्र।
यें ब्रह्म–ज्ञान के आदि स्रोत, ये उन्नत भावों से ओत–प्रोत।।
यें 'चतुर्मुखी' विद्यासागर, ब्रह्मा का रुप इन्हें जानो।
ये स्नेह–नीर से भरे सिंधु तुम 'विश्वमित्र' इनको मानो।।
ये 'अगस्त्य' ऋषि की सन्ताने, पीकर सागर हैं गये दूर।
ये 'कश्यप' ऋषि के वंशज है, ज्ञानोदधि से भरपूर–पूर।।
ये वैदिक–संस्कृति के अग्रदूत, वसुधा को ज्ञान बांटते हैं।
ये 'ब्राह्मण' पहुँचे कहाँ नहीं, अब भी अवशेष बोलते हैं।।
विज्ञान–ज्ञान की शोधों में, ये सदा समर्पित रहते हैं।
एक वज्र बनाने ऋषि दधीचि, जीवन अर्पित कर देते है।।
ये हिमगिरि से हैं श्वेत –श्वेत, ये निर्मल गंगा से पवित्र नीर।
इनकी वाणी के पवित्र बोल, कर देते सबको धीर–वीर।।
इनकी वाणी का प्रचण्ड वेग, तुम सहन नहीं कर पाओगे।
इनको मत बांधों, हे राजन् ! तुम खुद ही बांधे जाओगे।
इनकी 'वाणी' मधुरस भिगी, उपकार जगत का करती है।
यह वाणी 'ब्रह्मौदन' बनकर, उत्थान राष्ट्र का करती है।।

यह 'वरदा' है, यह 'सुखदा' भी सुजला, सुफला भी यह वाणी।
यह तेजधारिणी, ब्रह्माणी, सबके हित में यह कल्याणी।।
यह 'मातृ–रूप' यह 'पितृ–रूप' यह 'वाचस्पति' की दुहिता है।
यह स्वयं प्रकाशित अपने से, कहलाती माता 'सविता' है।।
'वाणी ' का रूप नहीं दिखता, वह अनुभव सबको होता है।
वाणी जब चुप्पी साधे है, अद्भुत बल उसमें होता है।।
यह 'ब्राह्मण–वाणी', राष्ट्र--गवी, जब अपने को प्रकटाती है।
उत्थान राष्ट्र का होता है, दुष्टों की एक न चलती है।।
यह विकट–वेदना सह–सह कर दुख–द्वन्द्वो से लड़ जाती है।
अन्यायी जहां भी सिर उठाये, सीना ताने अड़ जाती है।।
जब त्राहि–त्राहि जनता करती, बेबस, बेसहारा हो जाती ।
यह दिव्य रूप धारण करके, पापी हित व्याला हो जाती ।।
ब्राह्मण समाज का मुख होता, चिन्तन काहै आधार यही।
वह लोकपति भी कहलाता, जन–जन का है आधार वही।।
ब्रह्म–वाणी सदा 'अमोघा' है, नहीं, 'मृषा' कभी होती जग में।
यह 'तप–मन्यु' से सिद्ध हुई, दुष्टों को मार रही पल में।।

('ब्रह्मगवी' से साभार)

• • •

काव्य शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा।।

अर्थ :– बुद्धिमान् लोग अपने समय को शास्त्र आदि की चर्चा में व्यतीत करते हैं किन्तु मूर्ख लोग जूआं खेलना, नींद लेना और लड़ाई झगड़ो में समय खराब करते हैं।

ऋग्वेद में 'वह' धातु के प्रयोग

- डॉ0 सत्यदेव निगमालंकार,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वैदिक कोष निघण्टु में 'वहते' गत्यर्थक धातुओं में पठित है[1]। व्याकरणों ने यह धातु उभयपदी मानी है। काशकृत्स्न 'वह प्रापणे' में प्रापण का अर्थ 'धारण' मानते हैं[2]। मैत्तैय ने इस धातु को उभयपदी मानकर प्रापण अर्थ में इसे सकर्मक स्वीकार किया है तथा स्पन्दन या प्रवहण अर्थ में अकर्मक[3]। क्षीर स्वामी और सायण भी इस धातु के उभयपदी होने की चर्चा करते हैं[4]। आख्यात चन्द्रिका में क्षत्रिय वर्ग में इसे प्रवहणार्थक तथा गत्यर्थक धातुओं में परिगणित किया है तथा नानार्थ वर्ग में इसके अर्थ स्पन्दन, प्रापण एवं धृति कथित हुए हैं[5]।

ऋग्वेद में निरूपसर्ग लकार, रूपों में यह लगभग 150 बार प्रयुक्त हुई है। वहाँ भी यह उभयपदी है। इसके लकार रूप वहते, वहति, वहतः, वहन्ते, वहन्ति,वहसि, वहेथे, वहध्वे, वहामि, वहाते, वहत्, वहासि, वहाथ, वहताम्, वहन्तु, वहस्व, वह, वहतम्, वहत, अवहन्, अवहः, वहेयुः, वक्षि, उवाह, ऊहिरे, ऊहथुः, वक्षति, वक्षत्, वक्षतः, वक्षन्, वक्षः, अवाट्, तथा वोकहम्, प्राप्त होते हैं।

ऋग्वेद में गति, वहन या प्रापण अर्थ अधिकतर निम्न रूपों में उपलब्ध होता है—

1— घोड़ों द्वारा रथ का वहन।
2— घोड़ों द्वारा रथारोही का वहन
3— प्राप्त कराना, पहुँचाना।
4— ले जाना।
5— लाना या पास लाना।
6— ढोकर या उठाकर लाना।
7— प्राप्त होना, प्राप्त करना।
8— चलाना, संचालन करना।
9— गमन करना, संचार करना।
10— धारण करना।
11— बहाना या प्रवाहित करना।
12— हवि वहन करना।
13— यज्ञ कराना।
14— विवाह करना।

ये सब गति के ही प्रकारान्तर हैं, अतः निघण्टु में गति अर्थ पठित 'वह' धातु से प्रकरणानुसार ये सब अर्थ गृहीत हो सकते हैं। अब हम इनमें से प्रत्येक गति—प्रकार के ऋग्वेद से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

1— घोड़ो द्वारा रथ का वहन

सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः । ऋ0 1/164/3

देवता—सूर्यः। हे सूर्य, तेरे सात चक्रों वाले रथ को सात घोड़े वहन करते हैं, खींचते हैं।

श्यावा रथं वहतो रोहिता वा । ऋ0 2/6/2

देवता–अग्निः । अग्नि के रथ को शबल वर्ण के अथवा रोहित वर्ण के घोड़े वहन करते हैं, खींचते हैं ।

अर्वाञ्चं त्वा सुखे रथे वहतामिन्द्र केशिना । । ऋ0 3/41/9

देवता–इन्द्रः । हे इन्द्र केशों वाले अश्वयुगल सुखकारी रथ में तुझे हमारी ओर वहन करके लायें ।

उत ते सुष्टुता हरी वृषणा वहतो रथम् । ऋ0 8/13/23

देवता–इन्द्रः । हे इन्द्र तेरे रथ को सुस्तुत, बलवान् अश्वयुगल वहन करते हैं, खींचते हैं ।

सप्ती चिद् घा मदच्युता मिथुना वहतो रथम् । ऋ0 8/33/18

देवता–इन्द्रः । हे इन्द्र, तेरे रथ को मदस्रावी मिथुन घोड़े वहन करते हैं, खींचते हैं ।

2– घोड़ों द्वारा रथारोही का वहन

धृतपृष्ठा मनोयुजो ये त्वा वहन्ति वह्नयः । ऋ0 1/14/6

देवता–अग्निः । हे अग्नि जिनकी पीठ पर घी की मालिश होती है तथा जो चिन्तन करते ही रथ में जुड़ जाते हैं, ऐसे घोड़े तुझे वहन करते हैं, तुझ रथारूढ़ को स्थानान्तर में पहुचाते हैं ।

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य । ऋ0 1/50/8

देवता–सूर्यः । हे देव सूर्य, सात घोडे तुझे रथ में वहन करते हैं, तुझ रथारूढ़ को स्थानान्तर में पहुँचाते हैं ।

इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रति धृष्टशवसम् । ऋ0 1/84/2

देवता–इन्द्रः । अपराजेय बल वाले इन्द्र को उसके अश्वयुगल वहन करते हैं, स्थानान्तर में पहुँचाते हैं ।

जायेदस्तं मघवन् त्सेदु योनिस्तदित्त्वा युक्ता हरयो वहन्तु । ऋ0 3/53/4

देवता–इन्द्रः । हे वर, गृहिणी ही घर कहलाती है । वही सन्तानों की कारण बनती है । रथ में नियुक्त घोड़े तुझे उस घर में ले जायें, पहुँचायें ।

वहन्ति यत् ककुहासो रथे वाम् । ऋ0 4/44/2

देवता–अश्विनौ । हे अश्वी देवों, विशाल घोड़े आप दोनों को रथ में वहन करते हैं, तुम रथारूढ़ों को स्थानान्तर में पहुँचाते हो ।

तं शग्मासो अरूषासो अश्वा बृहस्पतिं सहवाहो वहन्ति । ऋ0 7/97/6

देवता–बृहस्पतिः । शान्तिदायक, आरोचमान साथ मिलकर वहन करने वाले घोड़े बृहस्पति को (रथ में) वहन करते हैं ।

यस्य मा हरितो रथे तिस्रो वहन्ति साधुया। ऋ0 10/33/5

देवता–कुरूश्रवणस्य दानस्तुतिः। जिस कुरूश्रवण द्वारा दान में दी गई तीन घोड़ियाँ मुझे साधु प्रकार से रथ में वहन करती हैं, मुझ रथारूढ़ को गन्तव्य स्थान पर पहुँचाती हैं।

ता वज्रिणं स्तोम्यं मद इन्द्रं रथे वहतो हर्यता हरी। ऋ0 10/96/6

देवता–इन्द्रः। वज्रधर, स्तोमार्ह इन्द्र को कमनीय अश्वयुगल रथ में वहन करते हैं अर्थात् रथारूढ़ इन्द्र को स्थानान्तर में पहुँचाते हैं।

भोजमश्वाः सुष्ठुवाहो वहन्ति। ऋ0 10/107/11

देवता–दानस्तुतिः। दानी को सुष्ठु वहन करने वाले घोड़े (रथ में) वहन करते हैं।

3–प्राप्त करना, पहुँचाना

त्रिर्नो रयिं वहतमश्विना युवम्। ऋ0 1/34/5

देवता अश्विनौ। हे अश्वीदेवो, तुम हमें तीन बार धन प्राप्त कराओ[6]।

यच्चित्रमप्न उषसो वहन्ती जानाय शशमानाय भद्रम्। ऋ0 1/113/20

देवता–उषसः। उषाएँ यज्ञ करने वाले तथा उद्योगी मनुष्य को अद्भुत धन प्राप्त कराती हैं[7]।

प्रमाण टिप्पणी :

1– वहते गतिकर्मा – 2,14 निघ0

2– वह प्रापणे–वहति, वहते धारयति। काश0 1/70/1

3– वह प्रापणे। वहति, वहते वह प्रापणे इति सकर्मकोऽयम्। अर्थान्तरे वृन्तेस्पन्दनेऽर्थे वर्त्तमानोऽकर्मकः नदी वहतीति। मैत्रे0 1/691

4– (अ) वहप्रापणे।वहते,वहित। 'बह्वां करणम्'। उह्वतेऽनेनेति वाहः: स्कन्धोऽश्वश्च। वहोध च– वधूः। वहि' वहित्रम क्षीर0 1/731

(ब) वह प्रापणे। वहति। वहते। (वह्निः वधूः अनड्वान)। साय0 1/726

5– वहति प्रवहत्यपाम्। क्षत्ति0 17, नृणाति लम्भयति च वहत्यपि नयतययम्। गत्यर्था....। क्ष0 90, वहतीत्येतत्स्यन्दने प्रापणे धृतौ।। आख्यात च0 नाना0 94,

6– रपिर्धनं त्रिः त्रिवारं वहतं प्रापयतम्। सा0

7– प्रापयन्ति। स्क0 दया0

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार स्मृति-अंक

सम्पादक

डॉ० महावीर

एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी) व्याकरणाचार्य

पी-एच.डी., डी.लिट्.

प्रोफेसर एवं निदेशक

श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान

सह-सम्पादक

डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार -249404

[illegible] जनवरी, 2000 | वर्ष 51 वां | [illegible]